गन्ध-गीता

• नन्दकिशोर तिवारी •

परमपूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माता जी को सादर समर्पित

।

नन्दकिशोर तिवारी

२९.२.२०१६

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी पद्यानुवाद

गंध-गीता

नन्द किशोर तिवारी

●

प्रकाशक

वेदाङ्ग-वाणी प्रकाशन

प्रज्ञा विहार, कल्याण कुञ्ज

मारुतिनगर, रमना, लंका

(बी.एच.यू.) वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

संवत् 2071 मूल्य : 300 रुपये

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी पद्यानुवाद

गंध-गीता

प्रथम संस्करण – संवत् 2071

प्रकाशक – **वेदाङ्ग वाणी प्रकाशन**

प्रज्ञा विहार, कल्याण कुञ्ज

मारुतिनगर, रमना, लंका

(बी.एच.यू.) वाराणसी

(उत्तर प्रदेश)

मूल्य – **रुपये (₹300)**

मुद्रक – **अंकित प्रेस**

के. 16/44, बीबीहटिया,

भैरोनाथ, वाराणसी - 221001

मो.:+91-9935956134
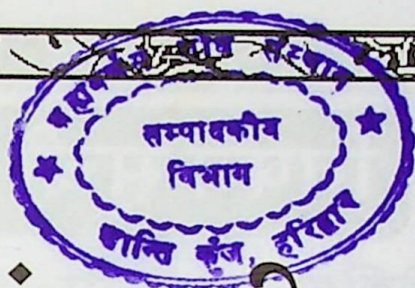
गंध-गीता

शिव-साधिका कृष्ण आराधिका

गायत्रीमना जीवन-संगिनी, सहचरी

शमिता को सस्नेह समर्पित ।

– नन्द किशोर

विषय सूची

***

गंध-गीता पर अभिमत

ग्रन्थ रचना के 'अनुदित' और 'मौलिक' देखकर
'खोल के भीतर' पढ़ा तब से हुआ मैं बेखबर ।
'नन्द' की कविता मुझे आनन्द देती क्या कहूं
'गंध-गीता' पाठकों पर डालती कितना असर ॥

रच दिया 'मानस' महाकवि ने लिखा स्वान्तः सुखाय
किन्तु वह सदग्रंथ सबके हित हुआअब सिद्ध है ।
'गंध-गीता' के रचयिता ने यही सोचा मगर
सर्वजन को दे रहा सुख ग्रन्थ यह समृद्ध है ॥

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी बन सकें
धन्य श्रोता भक्त अर्जुन और वक्ता कृष्ण है ।
धर्म का सब मर्म सचमुच जान सकता है वही
जिस धनुर्धर पर कृपा करता महेश्वर कृष्ण है ॥

शब्द है अतिशय सरलतम भाव कितना गूढ़ है
'गंध-गीता' की महक पर विज्ञ होता मूढ़ है ।
धन्य है वह कृष्ण जो था नन्दबाबा का किशोर
बस वही इस गंध-गीता पर हुआ आरूढ़ है ॥

क्या भला यह लिख सकेगी अल्पज्ञानी की कलम
किन्तु इतना जानती है गंध-गीता गूढ़ है ।
मैं नहीं मेरे सरीखे कोटि लेखक लिख मरे
किन्तु अब तक लिख न पाये गंध-गीता गूढ़ है ॥

21 मई, 2008

– कुबेरनाथ मिश्र 'विचित्र'
अध्यक्ष 'साहित्य मिलन'
भाटपार रानी,
देवरिया-274702 (उ.प्र.)
सम्पर्क : 09450500536

कविरत्न श्री कुबेरनाथ मिश्र 'विचित्र'
की पुनः प्रेषित एक स्नेहिल सम्मति

रचना रची नहीं जाती,
वह रच जाती है अपने से;
देखी कभी नहीं जाती छवि,
दिख जाती है अपने से ।

ऐसी पकड़ी गयी लेखनी
बिना चलाये चली गई;
कभी न कहना पड़ा रचो
अद्भुत रचना दे चली गई ॥

कौन जानता था ऐसी गीता
रच देता माखनचोर;
यह सुगंध-गीता जन-जन तक
पहुंचा देगा 'नन्द किशोर' ।

कभी बांसुरी से गुजरेगी

मधुर रागिनी मोहन की;

दिग्दिगंत में गूंजेगी वाणी

व्रज के मनमोहन की ॥

रचना परम विचित्र रचाई

मां को शतशत वन्दन है,

रचना जो रच गयी लेखनी

बार-बार अभिनन्दन है ॥

चैत्र रामनवमी
वाराणसी
12.4.2011

– कुबेरनाथ मिश्र 'विचित्र'
एम.ए., बी.एड., साहित्यरत्न, धर्मरत्न
अध्यक्ष 'साहित्य मिलन'
भाटपार रानी,
देवरिया-274702 (उ.प्र.)
सम्पर्क : 09450500536

अभिमत

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान कृष्ण के श्रीमुख से निःसृत अमृतवचन है जो मोहग्रस्त मानव को कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान कराने, संसारी कृत कार्यों से उपराम ग्रहण कराने और जीव का शिव में भक्ति भाव जगाने का एक स्तुत्य प्रयास है। प्रभु के दिव्य संदेश को वेदव्यास द्वारा देवभाषा संस्कृत के अनुष्टुप छंद में इतनी भव्यता में पिरोया गया है जिसके समक्ष समस्त विश्व और भारतीय वाङ्मय नतमस्तक है। भगवान के दिव्य संदेश का अनुवाद नहीं हो सकता, होना भी नहीं चाहिए। भाव और भाषा की कसौटी पर ईश्वर के संदेश को, उनकी निर्मल वाणी को कसा जाना किसी शेखचिल्ली के खेल से कम दिलचस्प और हास्यास्पद नहीं होता। जिस परमात्मा ने अपना गुणगान किया हो उसे विचारों और भावों के बंधन में कथमपि नहीं बाँधा जा सकता। किन्तु भक्त के मार्मिक उद्गारों को स्मृति-फलक पर उतारने और ईश्वरीय अनुराग-राग को जगाने के लिए एक शब्द शिल्पी का प्रयास अलम है, किंवा 'गंध-गीता' का अनुगायक तो निस्सन्देह भूरि भाग्य भाजन बनकर भक्ति के उच्च शिखर पर आरूढ़ होने के लिए यथासाध्य प्रयत्न कर ही सकता है। मोह-निशा में सोनेवाले जीव का विषाद तो ध्यातव्य है, किन्तु क्षत्रिय धर्म की बलि वेदी पर क्षत्रियोचित कर्म का त्याग कथमपि क्षम्य नहीं हो सकता। हिन्दी पद्म-पराग में संस्कृत-सुधा का लिप्यांतरण उस कवि की एक अनूठी कसौटी है जिसमें शब्दों की प्याली में भावों का अमृत उड़ेल कर समस्त जनमानस के बीच रख दिया। कहना चाहिए 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' अर्थात् कवि इस सृष्टि का एक अनमोल प्राणी होता है जो अपनी साधना का दीप प्रज्ज्वलित कर सम्पूर्ण मानव जाति में ईश्वर के प्रति श्रद्धा और अनन्यता का भाव जगाता है।

चेहरे पर प्रसन्नता की थिरकती रेखा और सतेज नेत्रों में अपूर्व समदृष्टि रख सबको अभिभूत कर देने की अपूर्व ललक; वस्त्रों में किंचित लापरवाही किन्तु मस्तिष्क में वेद वेदांत, ज्ञान-विज्ञान और दिल में सितार के तुनुक-तारों की मधुर झंकृति; ठिगने कद-काठी में हौले-हौले पाँव बढ़ा उम्र की दहलीज पर खड़ा 'गंधगीता' का उद्गाता और 'बाँसुरी से गुजरते हुए' 'स्वर गंगा की धारा', 'प्रमद्धरा', 'मिट्टी का महर्षि' जैसी अमूल्य कृति प्रदान करने वाला साहित्य साधक; एकांत का चिंतक और भारती की भव्यता का प्रति रूप-एक विरल व्यक्तित्व का धनी 'नन्द किशोर'।

काशी विश्वविद्यालय के पूर्वी भाग में रचे बसे प्रज्ञा विहार-कल्याण कुंज की छाया में विहार करनेवाले तिवारी नन्द किशोर के दर्शन से आप को अपूर्व सुख की प्राप्ति हो जाएगी।

श्रीमद्भगवद्गीता को 'गंधगीता' नाम देकर इस सहृदय कवि ने सचमुच उस कालजयी रचना को अपनी सरल-सुरुचिपूर्ण किन्तु गंभीर भावों के अनुरुप हिन्दी पद्य में यथानुरुप डालने का एक सफल प्रयोग किया है। इसमें गीता की ज्ञान-सुरभि; निष्काम भक्ति और सगुणोपासना का एक अद्भुत समन्वय हुआ है। भगवान के दिव्य संदेशों की रक्षा में कहीं कोई प्रमाद या त्रुटि दृष्टिगोचर नहीं होती। श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक पद्यानुवाद हुए हैं और आगे भी प्रबुद्ध वर्ग द्वारा होते रहेंगे किन्तु श्री तिवारीजी जैसे सूक्ष्म पारखी और सिद्धहस्त रचनाकार की उपलब्धि से मूल गीता के रहस्यों की यथेष्ट रक्षा हुई है। कुरुक्षेत्र के समरांगण में अपने श्रेष्ठ प्रातिभ शिष्य और सखा अर्जुन के व्याज से भगवान कृष्ण ने धर्म-कर्म का जो मर्म बतलाया है वह इस पद्यानुवाद में पूर्णतः अनुस्यूत है।

गीता के प्रथम अध्याय में मोहग्रस्त अर्जुन को शरीर और आत्मा की क्षणभंगुरता और नित्यता के स्वरूप का क्रमशः वर्णन कर कर्त्तव्य-पथ पर चलने की प्रेरण दी गयी है। दूसरे अध्याय में सांख्ययोग (निष्काम कर्मयोग) को ज्ञान योग की अपेक्षा अधिक सहज, सरल और अनिवार्य बताकर अनवरत कर्म करने की उचित मंत्रणा दी गयी है। गीता का सारतत्व इसी में निहित है। तीसरे अध्याय में उसी कर्म योग की विस्तृत व्याख्याकर गीता-गायक ने कर्त्तव्य को फल की इच्छाशक्ति से पृथक् बताकर अन्त में उसकी प्राप्ति की गारंटी भी दे दी है।

चौथे अध्याय में ज्ञान-कर्म-संन्यास की पृथक् सत्ता के भेदाभेद को, उसकी दिव्यता को बड़ी सूक्ष्मता से समझाने का प्रयास किया है। पाँचवे अध्याय में कर्म और संन्यास के प्रति एक सार्थक और मानवोचित मार्ग-दर्शन का सर्वाधिक उपयोगी सातत्य-संधान कराया गया है। कृष्ण भावना भावित कर्म का रहस्य समझाया गया है। छठे अध्याय में आत्मसंयम योग की व्याख्याकर सम्पूर्ण ज्ञान की परिसमाप्ति का श्रेष्ठ किन्तु दुरुह मार्ग बताकर निष्काम कर्मयोग के क्षेत्र में प्रयास करने की सलाह दी गयी है। इसमें ध्यान योग की निगूढ़ ग्रंथि को खोलने और जीव जगत से परे ब्रह्मलोक के प्रयास पर बल दिया गया है और भी गीता के सातवें अध्याय में भगवान ने अर्जुन को भगवद्ज्ञान में प्रवृत्त होने से संबंधित ध्यान-ज्ञान अभ्यास की विधि बतलायी है। यह एक विरल विधि है जो हजारों मनुष्यों की पहुँच के बाहर है।

सृजन-प्रलय का खेल युगों से चलता आया है जिसमें जीव आध्यात्म और भौतिकता के अन्तर को नहीं समझ पाने के कारण पेण्डुलम की भाँति जन्म और मृत्यु के वात्याचक्र को में पिसा जाता है। पञ्च तत्वों, पञ्च महाभूतों का उद्‌गम ही प्रभु की विशिष्टता है।

आठवें अध्याय में अर्जुन ब्रह्म, आत्मा, सकाम कर्म, देवता और यज्ञों के स्वामी के प्रति अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है। भगवत्प्राप्ति के लिए इन सभी सार तत्वों और रहस्यों का समाधान कर भगवान ने अंतिम घड़ी में स्मरण करने वाले जीवों, विशेषकर मनुष्य के उसी स्वरूप प्राप्त होने का निर्देश किया है। मृत्युकाल में योगशक्ति द्वारा प्रणव मंत्र का आवाहन कर जीव सिद्धि प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

नौवें अध्याय में भगवान ने अपने भक्त शिष्य अर्जुन के माध्यम से परम गुह्य ज्ञान के द्वारा संसार-सागर तर जाने का रहस्य समझाया है। इसे ही राजविद्या कहा गया है जो गोपन रहस्य होने के चलते परमशुद्ध आत्मा की अनुभूति कराता है। श्रद्धा भक्ति के द्वारा किए गये प्रयास से जीवों का पालन करने वाला केवल ईश ही सर्वत्र व्याप्त दृश्य जगत् का स्वामी है। कालान्तर में प्राणी उसी परमात्मा में विलीन हो जाता है। मोहग्रस्त जीव के लिए भगवान का नित्य प्रति कीर्त्तन, भजन, पूजा-पाठ ही एकमात्र आधार है।

गीता के दसवें अध्याय में भगवान के ऐश्वर्य का गुणगान हुआ है। भगवान अपने भक्त और सखा अर्जुन को अपने जन्म का रहस्य बताते हुए अनादि-अजन्मा कहकर सभी लोकों का स्वामी बतलाते हैं। सप्तर्षिगण, चारऋषि, सारे मन्वन्तर में उत्पन्न मनु उनसे ही उत्पन्न हैं। वे समस्त जगत के कारण और उसके परिणाम हैं। वे ही असित, व्यास, देवल, नारद द्वारा सबके प्राणों के प्राण कहे गये हैं। वे ही आदित्यों में विष्णु, तेजस्विता में सूर्य, मरुतों में मरीचि, नक्षत्रों में शशि, वेदों में सामवेद, देवगणों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, जीवों में चेतन शक्ति, रूद्रगणों में शिव, यक्ष राक्षसों में कुबेर, वसुओं में अग्नि, पर्वतों में मेरु, पुराहितों में वृहस्पति, सेनानियों में कार्त्तिकिय, जलाशयों में सिन्धु, महर्षियों में भृगु, वाणी में ओंकार प्रणव, यज्ञों में जपयज्ञ, अचलों में हिमवान, समस्त वृक्षों में पिप्पल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्ध पुरुषों में कपिल, अश्वों में उच्चैश्रवा, गजराजों में ऐरावत, मनुजों में सम्राट, हथियारों में वज्र, गौवों में कामधेनु, लोकप्रेम में कामदेव, सर्पों में वासुकि, नागों में अनन्त, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा, नियम-नियामक में यम,

दैत्यों में प्रह्लाद, दमन-दलन में काल, पशुओं में सिंह, पक्षियों में गरुण, शुचिकर्ताओं में वायु, शस्त्रधारियों में राम, मत्स्यों में मगर, नदियों में गंगा, अक्षरों में अकार, समासों में द्वन्द्व, छंदों में गायत्री मंत्र, महिनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में वसंत, छलियों में द्युत (जुआ), वृष्णिवंश में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास, कवियों में उसना है यह कहकर समस्त जगत का जनकबीज ठहराया है।

ग्यारहवें अध्याय में भगवान ने अपने कथन की पुष्टि और प्रभाव की व्यापकता सिद्ध करने के लिए अपने विराट स्वरूप का प्रदर्शन किया है, जिसमें समस्त सृष्टि दूधमुँही बच्ची के समान खिलखिलाती और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचाते हुए भक्त अर्जुन के मन को सहसा उद्वेलित कर देता है। उसके अन्तस् का सन्देह और अपने-पराये का भेद मिट जाता है। सभी मरे हुए प्राणियों की लाश पर रौंदते हुए जीव की वास्तविक सत्ता का अनुभव कर अपने को कर्त्तव्य का एक क्षुद्र पुतला मान भगवान के समक्ष दोनों हाथ जोड़े खड़ा है। उसे संसार के बीच मृत्यु की अनिवार्यता और जीवन-चक्र के बीच घूमते काल-पुरुष ईश्वर के विराट रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। निष्कर्ष के रूप में भगवान सृष्टि के मूल रहस्य की पुंखानुपुंख प्रतिच्छाया दिखा अर्जुन को 'उतिष्ठत् जाग्रत् प्राप्त परान्नि बोधक्' सत्य से परिचित करा देते हैं।

गीता के बारहवें अध्याय में भगवान ने निर्गुण भक्ति की अपेक्षा सगुण भक्ति की उपयोगिता और श्रेष्ठता बतलाकर अपने सगुण अवतार की अनिवार्यता सिद्ध की है। सगुण भक्त का मन रखने और ज्ञान तथा उपासना की अपेक्षा सगुण भक्ति की अनिवार्यता का गुणगान कर भगवान ने इसकी महत्ता प्रतिपादित की है। ज्ञान और निष्काम भक्ति की अपेक्षा सगुणोपासना मनुष्य के लिए सहज ग्राह्य है। श्रद्धा भक्ति के द्वारा अर्पित प्रत्येक कार्य-व्यापार प्रभु को स्वीकार होता है। भक्त उसके साथ जैसा सम्बन्ध बनाता है भगवान उसी रूप में उसकी भक्ति स्वीकार करते हैं। स्वामी, सखा, प्रेमी, यहाँ तक कि कंस, रावण की दुश्मनी भी भगवान के लिए वैसे ही स्वीकार्य होती है। यह एक सरल मार्ग है जिसके द्वारा प्रभु से अविच्छिन्न सम्बन्ध बनाया जा सकता है।

गीता के तेरहवें अध्याय में प्रकृति, पुरुष तथा चेतन के द्वारा मनुष्य को शरीर, उसके स्वामी तथा परमात्मा के अन्तर को समझाया गया है। चौदहवें अध्याय में प्रकृति के तीनों गुणों-सत्व, रज तथा तम के लक्षणों और उसके संसर्ग से उत्पन्न गुण-दोषों की चर्चा है।

पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम योग का लक्षण प्रतिपादित है। सोलहवें अध्याय में देवी तथा आसुरी स्वभाव का वर्णन व सतरहवें अध्याय में श्रद्धा के विभागों के अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप की जीवन में उपयोगिता प्रतिपादित हुई है।

गीता के अठारहवें और अंतिम अध्याय में संन्यास की सिद्धि के लिए ईश्वर की शरणागति को सर्वोच्च बतलाकर अपना सम्पूर्ण समर्पित करने का अंतिम उद्घोष अभिव्यक्त है। मूलरूप से पाँच विषयों-भगवान, भौतिक प्रकृति, जीव, शाश्वत काल तथा सभी प्रकार के कर्मों की व्याख्या कर भगवान में आत्म समर्पित होने का दिव्य संदेश दिया गया है।

गीता के समश्लोकी पद्यानुवाद में 'गंधगीता' सचमुच कवि श्री तिवारीजी के उत्कृष्ट निकष की एक अलौकिक देन है जिसमे शब्दानुवाद, भावानुवाद एवं छायानुवाद तीनों त्रिवेणी का अपूर्व संगम परिलक्षित है। भक्ति की गंगा में गोता लगाने वाले भक्त कवि को श्रीमद्भगवद्गीता से बढ़कर दूसरी नौका कहाँ उपलब्ध होती ? मर्मस्थल की व्याकुल वियंची का अनुराग-राग जिस मनोहारी सरस शब्दावली में अभिव्यक्त है वह अपने आप में अनुपमेय एवं अनुकरणीय बन पड़ा है। नन्दन-कानन के कल्पतरु के नीचे बैठकर जितनी तन्मयता और उदात्तता का बोध हो सकता है, कदाचित वही उदात्त भूमि इस प्रातिभ भक्त कवि को जन्मना प्राप्त है। अर्जुन को कृष्ण से जो कुछ मिला वही इस कवि को प्रारब्ध में जूठन के रूप में प्राप्त हो गया है, ऐसा केवल इस 'गंधगीता' को देखकर कहा जा सकता है। संभव है द्वापर की शिला पर बैठा अर्जुन ही कलियुग में कवि को प्रारब्धवश जिज्ञासु कवि का रूपान्तर रूप मिला हो, वही एकबार धरती को यह अमर संदेश सुनाने आ गया हो। ऐसे इस सफल अनुवादक कवि के दीर्घजीवन की मंगल कामना सहित पुनः पुनः शतः शरद जीवेम।

ब्रह्मेश्वर नाथ तिवारी

आवास- ब्रह्मफूल

मारुति नगर

पोस्ट- रमना, सामनेघाट

वाराणसी

आदरणीय वाराणसी

बाबू जी, चरणस्पर्श 30-03-2014

बाबू जी रऊवा "खोल के भीतर" एह शीर्षक से जवन किताब लिखले बानी, ओकरा में आज के वर्त्तमान युग में मनुष्यन के भीतर पल रहल छलावा व्यवहार के बड़ा सलीका से प्रस्तुत कइले बानी। रहस्यात्मक शीर्षक रहस्यात्मके बात-विचार के दिहल जाला। जइसे खोल के भीतर कवन चीज भरल बा, कइसन चीज ह, का ह, ई सबरहस्य तब तक बनल रहेला, जब तक ओकर उपयोग या ओकरा पास आदमी न जाए, जइसहिं खोल के भीतर के चीज के उपयोग होला, तइसहिं ओकर सक्रियता-निष्क्रियता, सकारात्मकता-नकारात्मकता आदि पता चले लागेला। ठीक एहि सब चीज के रउआ एह में दरसवले बानी जैसे–

समाज का उत्थान मेरे पतन पर आश्रित है।
मंच पर नारी को माता-बहनें कह कर,
सम्बोधित करता हूँ, क्योंकि मंच है, समाज है,
भीतर माता-बहनें सभी मेरी भोग्या हैं। आदि-आदि।

अइसन अनेकों उदाहरण रउआ आज के मानवीय कुव्यवहार के दरसवले बानीं अपना एह किताब में। एक कवि का अन्तर्मन, मुझे रोटी चाहए, संसद पर हमला, मुफ्त की मिठाई, क्या कभी सुनते हो? ऊ सब शीर्षक से रउआ कविता लिखले बानी जबना के मन बार-बार पढ़े खातिर उद्यत होला, आ जब-जब पढ़ेला, मन हमेसा एह कविता संग्रह में से कुछ नया ले के आवेला। बहुते अच्छा विचार प्रकट कइले बानी रउआ एह किताब में। हम कइसे एकर बड़ाई करीं समझ में नइखे आवत। जइसन बरतन के जरूरत होला, कोहार ओइसन बरतन बना देलसन, सोनार ओइसन गहना बना देलसन, लोहार ओइसन लोहा के सामान बना देलसन, लेकिन हम शाब्दिक होके एकरा बड़ाई के सापेक्ष शब्द संयोजन नइखीं कर पावत, सब एह किताब के सामने फीका पड़ता खाली चमकता त खोल के भीतर किताब आ एकर लेखक (बाबूजी) के चेहरा। भगवान करस इ यश आ यशस्वी हमेसा चमकत रहे। इ हमार प्रार्थना बा। बाबूजी रउआ हमनी नई पीढ़ी के अइसन रचना दे के नया उत्साह से भर देले बानीं– का कहीं लिखे से मने नइखे मानत, आ का लिखीं इहो मन नइखे जानत। मन हहराता, छहराता, फरफराता, फड़फड़ाता, अब का चिठी में लिखीं जिया नइखे बतावत।

रामकेश्वर तिवारी

***

पूर्व प्रकाशित काव्य-पुस्तक 'खोल के भीतर' पर प्राप्त अभिमत

श्री नन्दकिशोर तिवारी की रचना 'खोल के भीतर' ने मेरी आँखें खोल दी। इस पुस्तक को पढ़ने पर लगा कि मेरी साहित्यिक संवेदना अभी बहुत कम है।

वैयक्तिक चेतना को समष्टि में विस्तीर्ण करने से एक उन्नत बौद्धिकता का विकास होता है, जिसे कविता, साहित्य या नाटक किसी भी विधा में सम्प्रेषणीय बनाया जा सकता है। लेखक की सामाजिक संवेदना का प्रहार जितना गूढ़ होता है, उतना ही निखार भाषा में व भाव में आता है।

श्रीतिवारी की रचना उनके अत्यंत मर्मस्पर्शी सामाजिक संवेदना की सपाट लेकिन बौद्धिक प्रस्तुति है जिसे पूरी तौर पर समझने के लिए उतनी ही गहरी संवेदना की आवश्यकता है। मेरा कृति एवं कृतित्व के धनी व्यक्तित्व को सादर प्रणाम है।

डा. श्री कृष्ण शर्मा खाण्डल

असिस्टेण्ट प्रोफेसर-रोग निदान
राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान
जयपुर (राजस्थान)

02.05.2008

हमारी भारतीय सांस्कृतिक धरोहर को आज के भौतिकवादी स्वार्थान्ध अगुवाई करने वाले नेताओं ने प्रजातंत्र की आड़ में छिन्न-भिन्नकर जाति और धर्म का दुपट्टा ओढ़ कर हमें विमूढ़ कर दिया है। कवि का सरल हृदय इससे व्यथित हो उठा है। इस सरल सत्य को अपनी मधुर मृदुल पद्य-छन्द में कवि ने उन नेताओं के मुखौटा को हटाने का सफल प्रयास किया है। अपना गाँव, चुनाव का चाँटा, आदर्श की अर्थी आदि कविताओं की पंक्तियाँ संग्रह में उन नेतृवृन्द के हृदय की भावनाओं को उकेरने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है और जनगण को सावधान भी प्रकारान्तर से किया है। कवि श्री नन्दकिशोर तिवारी जी को शतशत प्रणाम!

04.04.2008

– अविनाश प्रसाद सिंह

सेवानिवृत्त शिक्षक

ग्राम व पोस्ट- नाला

जिला- जामताड़ा (झारखण्ड)

कवि श्री नन्दकिशोर तिवारी का 'खोल के भीतर' हिन्दी साहित्य की कविता संग्रह का साम्प्रतिकतम संयोजन है। यह इनकी पहली कविता-संग्रह है। पर कविता के आसमान में इनकी प्रतिभा की झलक तथा भावनाओं की आत्मिक अभिव्यक्ति आने वाले समय के एक नक्षत्र के जैसा प्रतीत होता है।

श्री नन्दकिशोर तिवारी प्रतिभावान एवं चिन्तनशील कवि है। इनके नाला, जिला-जामताड़ा (झारखण्ड) में अवस्थापन के समय मैंने इनके 'खोल के भीतर' तथा अन्य कुछ कविताओं का अनुवाद किया था। 'खोल के भीतर' को पढ़कर कवि की गहरी अन्तर्दृष्टि से मानव चरित्र को पहचानने का बोध, भाषा तथा रचना शैली पर इतना विमुग्ध हुआ कि तुरन्त उन कविताओं का अनुवाद अंग्रेजी में करने लग गया। इसका अनुवाद मैंने बांग्ला में भी किया है।

इनकी कविता खासकर 'खोल के भीतर' मानवीय व्यष्टि तथा समष्टि चरित्र का गहरा अध्ययन है। आदमी भीतर और बाहर से एक जैसा नहीं है। इस सत्य को, मानवीय पाखण्डता की इस कटु सच्चाई कवि की गहरी अन्तर्दृष्टि से छिपकर नहीं रह पाया। सिर्फ व्यक्ति ही नहीं समष्टि चरित्र का इनका इस अनुपम कविता शैली के माध्यम से एक उन्मोचन है। ऐसे यह कविता Universal होकर समय की लक्ष्मण रेखा को पार कर जाता है।

इन अन्य कविताओं का समाज तथा जीवन के हर पहलू को छूने का प्रयास सार्थक तथा परिपक्व है।

इनका अभियान जारी रहे। इनकी कृतियों के बारे में लिखने का कलम अब समय के हाथ में है।

05.04.2008

– सुभाषचन्द्र चक्रवर्ती

सेवानिवृत्त प्रधानाध्यापक

उच्चविद्यालय कुकुराहा देवधरा

वर्तमान पता- ग्राम- गोपालपुर, पोस्ट- नाला

जिला- जामताड़ा (झारखण्ड)

फोन : 06428-228498

भाई श्री नन्दकिशोर तिवारी जी मेरे अभिन्न एवं आत्मीय मित्रों में रहे हैं। अपने अध्यापकीय कार्यकाल में मैंने इनके साथ अध्यापन का कार्य भी किया है। ये चूकि मेरे निकटवर्ती गांव कल्याणपुर, जो पुनपुन नदी के तीर पर है, के होने के कारण प्रारम्भ से ही इनकी भावनाओं से परिचित रहा हूं। अध्ययन एवं अध्यापन में इनकी साहित्यिक सरसता का आनन्द मैंने सदैव उठाया है। इनके लिखे गीत जो मगही, भोजपुरी व हिन्दी में हैं, वो सुनकर अभिभूत हो जाया किया हूं। इनका दार्शनिक चिंतन भी बड़ा सरल पर गूढ़ रहा है। पुनपुन नदी के किनारे विशाल पीपल पेड़ के नीचे (विद्यालय के निकट) बैठे एवं अनवरत जल-प्रवाह का पर्यवेक्षण करते इन्हें देखा है। इन्हीं पर्यवेक्षण के क्रम में इन्होंने एक बड़ी अच्छी दार्शनिक जीवन परक कहानी 'समाधि के पत्थर' सुनायी थी जो अभी भी मस्तिष्क में कभी-कभी उभर आती है। इनके 'खोल के भीतर' काव्य-संग्रह की रचनाएं यथार्थ का आईना है। मेरी हार्दिक शुभकानाएं, इन्हें यशस्वी जीवन प्रभु प्रदान करें।

20.05.2008

– रामाधार मिश्र

सेवानिवृत्त प्रधानाध्यापक

वंशी सूर्यपुर, पोस्ट- सोनभद्र

जिला- अरवल (बिहार)

॥ ॐ ॥

श्री परमात्मने नमः

उत्प्रेरणा

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय
प्रसाद लेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्वं भगवन् महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

(श्रीमद्भागवत, 10.14.27)

('हे प्रभु! यदि आपके कोई चरण कमलों की रंचमात्र की कृपा प्राप्त कर लेता है तो वह आपकी महानता को समझ सकता है। किन्तु जो लोग भगवान् को समझने के लिए मानसिक कल्पना करते हैं वे वेदों का वर्षों तक अध्ययन करके भी नहीं समझ पाते।')

बचपन में बालसुलभ अपनी प्रकृति के कारण पूज्य बाबा (श्री ब्रह्मदेव तिवारी) एवं पूज्य पिताजी (श्री सौदागर तिवारी) जिनके साथ मैं दालान पर सोया करता था, रात्रि में वे राजा-रानी, भूत-प्रेत व कभी भगवान राम-कृष्ण की कहानियां सुनाते तो बड़े मनोयोग से सुनता। भगवान कृष्ण की कथा सुनते तो बड़ा ही रोचक लगता और मन एकाग्र हो जाता। उन परिस्थितियों-परिवेश,

समय-काल और लीला की रोचकता में इतना लीन हो जाता और ऐसा लगता जैसे मैं भी उस लीला में कहीं-न-कहीं सम्मिलित हूं।

हमारे गाँव कल्याणपुर के पण्डित श्री रघुनन्दन त्रिपाठी जी पिताजी के अनन्य मित्र थे। वे संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान एवं मर्मज्ञ कवि रचनाकार थे। वे मेरे पिताजी को व्यास जी कहा करते थे। पण्डित वे स्वयं थे लेकिन विद्वता से अलंकृत उपाधि 'व्यासजी' पिताजी को देते थे। उन लोगों के बीच रहकर भी कभी-कभी श्रीमद्भागवत व गीता-रामायण की कथाएं सुनता और भीतर-ही-भीतर जैसे कुछ उद्भूत होता प्रतीत होता। फिर अपने विद्वान मामा पण्डित देवनन्दन पाण्डेय जी (सदुरा निवासी), जिन्होंने रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत के कुछ रोचक प्रसंगों का मगही गीतों मे रचना की थी, वे भी मेरे मन-मस्तिष्क को रसात्मकता प्रदान किये देते थे। मन बराबर उसी प्राचीन कृष्ण-काल के वृन्दावन में पहुंचकर आनन्दमग्न हो जाया करता था।

कालान्तर में इस संदर्भ में मैंने जिज्ञासावश एक बार आदरणीय डॉ. बरसानेलाल चतुर्वेदी जी को रामजी द्वार मथुरा में, वृन्दावन-मथुरा के विषय में पत्राचार भी किया था तथा उन्होंने पत्र के भावों से प्रभावित होकर मथुरा अपने निवास पर आने का तथा मिलने का स्नेहिल आमंत्रण भी दिया था।

समय गुजरता गया। अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद मैं सरकारी सेवा में आ गया। सामान्य दैनन्दिन पूजा-पाठ में

श्रीमद्भगवद्गीता मेरे जीवन का आधार जैसा हो गया। उससे मुझे सदैव प्रेरणा, बल, दिशा निर्देश मिला करता।

सरकारी सेवा में स्थानान्तरण के क्रम में मेरा पदस्थापन बिहार के सुदूर पूर्वी क्षेत्र (वर्तमान झारखण्ड राज्य में) में एक अत्यन्त पिछड़े क्षेत्र आदिवासी बहुल जंगली स्थान में हो गया। वह दुमका जिलान्तर्गत् जामताड़ा सबडिवीजन के अन्तर्गत् नाला प्रखण्ड में पड़ता है। वहा मुण्डा, उरांव, सौतार तथा बगला बोलनेवाले लोग ही अधिक थे। कुछ लोग हिन्दी भाषी भी थे। उन्हीं लोगों के बीच रहने का अभ्यास शुरू किया। मैं जिस भाड़े के मकान में रहता था वह भी एक अरण्य जैसा ही था। प्रतिदिन अपनी दैनन्दिन क्रिया के बाद गीता का पाठ करता था।

संभवत; वह वर्ष 2002 का समय था। सुबह 7:30 बजे प्रभु का ध्यान धारण कर गीता का पाठ कर रहा था। ध्यान में कभी-कभी कुछ विचित्र अनुभूतियां भी हो जाया करती हैं। भगवान का स्वरूप ध्यान में धरकर चतुर्थ अध्याय का पाठ कर रहा था जिसमें भगवान ने अर्जुन को दिव्यज्ञान का उपदेश दिया है। संभवत् वह श्लोक संख्या 29 चतुर्थ अध्याय का था। पढ़ते-पढ़ते आँखे अनायास बिल्कुल बन्द हो गयी। अपनी स्थिति, स्थान का ध्यान नहीं रहा। एक ऐसी अदृश्य शक्ति, सत्ता द्वारा मानों उठाकर महाभारत कुरूक्षेत्र के बीचोबीच स्थान में पहुँचा दिया गया। जहाँ भगवान अपने विराट रूप का दर्शन अर्जुन को करा रहे हैं (अध्याय एकादश)। वहां अनुभूति की गहनता इतनी बढ़ गयी कि

हाथ जोड़े अर्जुन की जगह मैंने स्वयं को पाया। प्रकंपित शरीर, अजस्र अश्रु प्रवाह। आह, वाह, अथाह। पता नहीं कितनी देर तक यह स्थिति बनी रही। अन्तः साक्ष्य का वह दृश्य दृष्टि से गया सृष्टि को समझने का, कुछ सीखने का। भावाविष्ट अवस्था से जब सामान्य मनोभूमि धरातल पर आया आँखें खुली तो देखा आँखें गीली हैं, कपड़े अश्रुसिक्त हैं। शरीर, मन, हृदय इतना शान्त हल्का निर्विकार, निर्विचार सा हो गया। अनिर्वाच्य की स्थिति बन गयी। तत्काल ही जैसे भीतर से प्रेरणा मिली कि उस परम पावन गीता का हिन्दी पद्यानुवाद करूं और मैंने प्रभु को नमन कर तत्काल यह कार्य प्रारम्भ कर दिया।

गीता का चतुर्थ अध्याय श्लोक 29

अपाने जुहुति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापान गति रूद्ध्वा प्राणयाम परायणाः ॥
अपरे नियता हाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्रूति ॥27॥

श्वास रोक रहते समाधि में
प्राणों को अपान में रोक ।
औ' अपान को प्राणवायु में
रोक करे अभ्यास, विशोक ॥

और अंत में प्राण अपान को
रोक समाधि में जाते ।
औ' कुछ लोग स्वल्प भोजन ले
प्राण प्राण तक पहुंचाते ॥

जीवन को विस्तार इन्हीं
प्राणायामों से मिलता है ।
जब कुंभक का कुंभ भरे
वह प्राणकमल तब खिलता है ॥

जो प्रवृत्ति निश्चल भक्ति में
होता प्रवृत्त प्रभु के जान ।
प्रकृति गुणों से पार उतरता
वह नर बनता महा महान् ॥

('जब तक कोई गीता का पाठ विनम्र भाव से नहीं करता है, तब तक उसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह एक महान रहस्य है।')

'ईश्वर का अर्थ नियंता है और जीवों का अर्थ नियंत्रित।' 'सोने का एक कण भी सोना है, समुद्र के जल की बूंद भी खारी होती है।' इस प्रकार हम जीव भी परमनियन्ता ईश्वर या भगवान श्रीकृष्ण के अंश होने के कारण, सूक्ष्म मात्रा में परमेश्वर के सभी गुणों से युक्त होते हैं, क्योंकि हम सूक्ष्म ईश्वर या अधीनस्थ ईश्वर हैं।

'जीव कभी भी, यहां तक की अपनी सिद्ध अवस्था में भी, परम चेतन नहीं हो सकता और यह सिद्धान्त भ्रामक है कि जीव परम चेतन है। वह चेतन तो है, लेकिन पूर्ण या परम चेतन नहीं।'

'जो व्यक्ति देहात्मबुद्धि में लीन रहता है वह अपनी स्थिति (स्वरूप) को नहीं समझ पाता।'

'भगवद्गीता समस्त वैदिक ज्ञान का सार है ।

'जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु ।'

'धर्म का अर्थ होता है जो पदार्थ विशेष में रहता है। सेवा करना ही सनातन धर्म है।'

इस तरह पूर्व प्रेरणाओं के आधार पर जो रसात्मकता की प्राप्ति हुई वही सरल शब्दों में गीता का पद्यानुवाद के रूप में आया। गहनता तो सागर में है, ईश्वर में है, महाशून्य में है, आकाश में है। मैं अर्थात् एक सामान्य जीव (मनुष्य) एक बूंद ही हूं। अपनी सीमाओं में असीम को बांधा नहीं जा सकता। वह तो अनन्त है। फिर भी उस सागर का एक बूंद भी इस गीता के पद्यानुवाद में घुलमिल गया होगा तो मैं खुद को धन्य समझूंगा।

गीता की पावनता प्रेरणा का एक कण भी इस जीवन को मिल जाय तो अहोभाग्य हो जाय।

पुस्तक के नामकरण की समस्या भी सामने आई। लगा यह वह तो नहीं लेकिन उनकी छंहरी में अंकुरित हुई एक बीज की सुगंधि तो अवश्य है, होगी।

अतः इसमें गीता का गंध भर मिल जाय तो बहुत है। इसी कारण इसका नाम 'गंध-गीता' रखा, शायद सार्थक हो।

समय-समय पर इसे अपने इष्ट-मित्रों साहित्यिक अभिरूचिवाले लोगों को दिखाया, सुनाया, पढ़ाया। लोगों ने प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया। उन मित्र-बन्धुवरों में आदरणीय श्री रामाधार दूबेजी, श्री सुरेन्द्र प्रसाद पाण्डेय जी (गोह-औरंगाबाद), श्री अविनाश प्रसाद सिंह, श्री सुभाषचन्द्र चक्रवर्ती जी, श्री अखिलेश प्रसाद सिंह जी (सभी सेवानिवृत्त प्राधानाध्यापक, नाला-जामताड़ा, झारखण्ड) श्री रामाधार मिश्र (सेवानिवृत्त प्राधानाध्यापक वंशी-कल्याणपुर, बिहार), श्री तारानाथ मिश्र (सेवानिवृत्त शिक्षक, टिकारी, गया) एवं श्री ब्रह्मेश्वरनाथ तिवारी जी (मारुतिनगर कालोनी, ब्रह्मफूल आवास, वाराणसी) को बहुत-बहुत हार्दिक धन्यवाद।

जीवन के हर सुख-दुःख के भावों में भक्ति का रंग घोल भावनात्मक भावना भरने वाली प्रिया पत्नी भामिनी शमिता, आदर का आदर्श रखने वाले अपने तीनों सुमन सुवनों आनन्द, अमिताभ, अपूर्व व दुहिता अर्चना को स्नेह की सुगंधि देना तो अपना कर्त्तव्य है। शेष बगिया के सारे फूलों को मुस्कान की अलौकिक आभा की कामना करते हुए प्रभु के आगे विनीत विनम्र कर जोड़े खड़ा हूँ कि उन्हें सन्मार्ग दर्शायें, सद्बुद्धि दें।

और अन्त में, उनके उद्घोष के आश्रित विनीत

'जोभी मेरी चरण-शरण में आता
भले नीच-से-नीच ।
वैश्य, शूद्र, नारी जो भी हो
देता सबके पाप उलीच ॥ (7/32)

धर्मप्राण ब्राह्मण, भक्तों राजाओं का
फिर क्या कहना ।
अर्जुन प्रेम-भक्ति में डूबो
भव-दुःख पड़े नहीं सहना ॥ (7/33)

अपने मन को मेरे चिंतन में रखो
मम भक्त बनो ।
नमस्कार मेरी पूजा कर
मुझमें ही अनुरक्त रहो ॥

पूर्णतया मुझमें तल्लीन हो
पा जाओगे मेरा धाम ।
मुझको जो हूं लक्ष्य तुम्हारा
एकमात्र बस केवल श्याम ॥ (7/34)

– नन्द किशोर तिवारी
मारुतिनगर कालोनी
वाराणसी

वैशाख शुक्ल तृतीया
विक्रम संवत् २०७०
तदनुसार 13.5.2013

' गंधगीता '

पहला अध्याय

(कुरूक्षेत्र के युद्धस्थल में सैन्य-निरीक्षण)

धृतराष्ट्र उवाच – ***धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।***
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।1।।

धृतराष्ट्र ने कहा – बता संजय!
मेरे पुत्रों का हाल ।
धर्मक्षेत्र कुरूक्षेत्र मध्य में
खड़ी दिखती सैन्य विशाल।।
मन में प्रबल युद्ध की इच्छा
लेकर दोनों दल के वीर ।
मेरे और पाण्डु पुत्रों ने
क्या है किया, दिखा तस्वीर ।।1।।

संजय उवाच – ***दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।***
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।।2।।

राजन, सुनें – कहा संजय ने
सैन्य व्यूह रचना का हाल ।
दुर्योधन लख हाल पाण्डुका
गया गुरु के ढिग तत्काल ।।2।।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥3॥

हे आचार्य! पाण्डुपुत्रों की
है विशाल सेना देखें ।
जिसे आपके शिष्य द्रुपदसुत
रचे कुशलता से, लेखें ॥3॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुन समा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥4॥

इस सेना में भीम और अर्जुनः
समान हैं अनगिन वीर ।
यथा महारथि युयुधान औ,
द्रुपद विराट अन्य रणधीर ॥4॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान ।
पुरूजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च् नरपुङ्गवः ॥5॥

धृष्टकेतु औ चेकितान
काशीनृप पुरूजित कुन्तीभोज ।
शैव्य शक्तिशाली महान योद्धा
भर आये महत्तम ओज ॥5॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥6॥

पराक्रमी वह युधामन्यु औ'
उतमौज अति महत बली ।
पुत्र सुभद्रा और द्रौपदी सुत
महारथी सभी बली ॥6॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥7॥

किन्तु आप ब्राह्मश्रेष्ठ को
एक सूचना देता हूं ।
अपने उन सेनानायक के
परिचय निपुण निवेता हूं ।।7।।

भवानभीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥8॥

आप स्वयं औ भीष्म कर्ण
हैं कृपाचार्य और अश्वत्थामा ।
सोमदत्तसुत भूरिश्रवा औ
हैं विकर्ण से अन्य जना ।।8।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥9॥

ऐसे अन्य अनेक वीर भी
मेरे हित करने निज त्याग ।
वो उद्धत हैं न्योछावर को
त्याग जिन्दगी के सबराग ।।
अस्त्र-शस्त्र से सभी सुसज्जित
निज विद्या में निपुण प्रवीण ।
यथा जयद्रथ-कृतवर्मा औ
शल्य शल्य की तरह नवीन ।।9।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥10॥

शक्ति हमारी अपरिमेय है
भलीभांति संरक्षित तात ।
स्वयं पितामह जब आगे हैं
फिर क्या घबराने की बात?
जंबकि पाण्डवों की शक्ति है
संरक्षित सीमित भीमगदा ।
विजय हमारी निश्चित है
सौभाग्य सजगता यदा-कदा ॥10॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥11॥

सैन्य व्यूह के निज मोर्चे पर
रहकर खड़े करें सहयोग ।
भीष्म पितामह की औ आगे
देखें सारे योग-कुयोग ॥11॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरूवृद्धः पितामहः ।
सिहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥12॥

वयोवृद्ध वह परम प्रतापी
कुरूवंश के वृद्ध महान ।
सिंह गर्जना की-सी ध्वनि में
लगे फूंकने शंख सुजान ।।
जिसे श्रवणकर अति हर्षित हो
दुर्योधन का जोश बढ़ा ।
किन्तु विजय की अभिलाषा पर
सहसा कहीं तुषार पड़ा ॥12॥

ततः शङ्खाश्चभेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥13॥

बजे वहां फिर शंख-नगाड़े
तुरही, सींग, बिगुल एक साथ ।
वह अत्यन्त भयंकर स्वर था
तने पांव, नख-शिख औ हाथ ।।13।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥14॥

वहीं दूसरी ओर श्वेत घोड़ों से
सजे हुए, रथ मांह ।
कृष्ण और अर्जुन बैठे थे
पुण्य प्रेम की शीतल छांह ।।
अपने-अपने दिव्य शंख को
उनने भी तब फूंक दिया ।
लगी अनल की लपट तेज में
घी देकर ज्यों होम किया ।।14।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥15॥

श्रीकृष्ण ने पांचजन्य औ'
अर्जुन देवदत्त फूंके ।
अतिभोजी वह भीमकाय ने
पौण्ड्र बजा रिपुदल हूके ।।15।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥16॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥17॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥18॥

कुन्तीपुत्र युद्धिष्ठिर ने
अपने अनंतविजय फूंके ।
नकुल सुघोष, सहदेव मणिपुष्पक
शंख बजा रिपुदल दूखे ।।16।।
काशीराज महान धनुर्धर
योद्धा परम शिखण्डी जान ।
घृष्टद्युम्न, सात्यकि अजेय औ'
द्रुपद विराट सभी बलवान ।।17।।
पुत्र द्रौपदी और सुभद्रा के सुत
निज-निज शंख बजा ।
युद्ध हुआ प्रारंभ, गरजने लगी
सिंह से, सजी धजा ।।18।।

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥19॥

इन विभिन्न शंखों की ध्वनि से
कोलाहल हर ओर हुआ ।
नभ पृथिवी शब्दायमान हो गये
सबों का हृदय छुआ ।।
सुनकर गर्जन घोर मेघ
जैसे नभ में घिर आते हैं ।
दिल दहला देते हरजन का
फिर शैलाब दिखाते हैं ।।
धृतराष्ट्र के पुत्रों का
जैसे तन मन सब जीर्ण हुए ।
तुमुलनाद ने उन सारे योद्धाओं के
हृदय विदीर्ण किए ।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥20॥

हनुमत चिह्नित ध्वजा लगी
रथ पर आसीन पाण्डुनन्दन ।
धनुष उठाकर तीर चलाने के
हित उद्यत हुआ सुजन ।।
हे राजन! तब धृतराष्ट्र के
पुत्रों का लख व्यूह बड़ा ।
अर्जुन बोला श्रीकृष्ण से
नाथ! द्वन्द्व आ हुआ खड़ा ।।

अर्जुन उवाच – ***सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।***
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ॥21॥
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥22॥

हे अच्युत! मेरा रथ ले
दोनों सेना के बीच चलें ।
जिससे मैं लख सकूं सभी को
कौन-कौन यह पत्ता मिले ।।
लिए युद्ध की अभिलाषा
शस्त्रों की महत परीक्षा में ।
संघर्ष मुझे करना जिससे
अपनी इच्छा पर ईच्छा में ।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥23॥

मुझे देखने दीजै उनको
जो दुर्मति दुर्योधन साथ ।
कर प्रसन्न, इच्छा लड़ने की
लिए बढ़ाने आये हाथ ।।

सञ्जय उवाच – ***एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।***
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥24॥

संजय ने तब कहा- भरतवंशी!
सुनिये आगे का हाल ।
संबोधन सुनकर अर्जुन का
कृष्ण बढ़ाये रथ तत्काल ।।
दोनों दल के मध्य किया रथ
लाकर खड़ा कृष्ण ने जान ।
अर्जुन का मन्तव्य समझकर
मुस्काये मन में भगवान ।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥25॥

कहा कृष्ण ने – भीष्म द्रोण औ'
सारे राजाओं के बीच ।
पार्थ! देख लो कुरूओं को
जो खड़े युद्ध में न्याय उलीच ।।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥26॥

सेनाओं के मध्य खड़ा
अर्जुन ने देखा चारों ओर ।
चाचा, ताऊ, पितामह, मामा
भाई, पुत्र औ' पौत्र अथोर ।।
मित्र, श्वसुर, शुभचिन्तक सारे
सैन्य वेश में दिंखे खड़े ।
भीष्म, द्रोण औ' कृपाचार्य
शकुनि इत्यादि बड़े बड़े ।।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत ।।27।।

मित्र, सभीं (संबंधों) की विभिन्न श्रेणियां
लखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन ।
करूणा से अभिभूत हो गया
बोला वचन, तात मम सुन ।।

अर्जुन उवाच – ***दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।***
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।।28।।

अर्जुन ने तब कहा – सखा, लख
मित्र, सगों का ऐसा हाल ।
खड़े युद्ध की इच्छा लेकर
मेरे आगे तीर सम्हाल ।।
इन्हें देख मेरे शरीर के
कांप रहे हैं सारे अंग ।
मुंह सूखता जाता मेरा
आया कैसा आज प्रसंग ।।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।।29।।

कांप रहा मेरा शरीर है
खड़े रोंगटे हैं होते ।
गाण्डीव सरक रहा कर से
त्वचा जल रही, दृग रोते ।।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशवः ।।30।।

हूं असमर्थ खड़ा रहने में
यहां और अब नाथ सुनो ।
भूल रहा हूं मैं अपने को
सिर चक्कर खा रहा गुनो ।।
सखे! सुनो, दिख रहा मुझे है
सभी अमंगल के कारण ।
क्या निमित्त है समझ न पाता
क्या होगा हित उपचारण ।।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।।31।।

अपने ही स्वजनों का वध कर
क्या कुछ पा जाऊंगा मीत ।
नहीं दिखता भला कहीं इसमें
हे कृष्ण! लगे विधि विपरीत ।।
इच्छा नहीं विजय की मुझको
और नहीं है सुख की चाह ।
नहीं राज्य की करूं कामना
थोड़े में होगा निर्वाह ।।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।
येषामर्थे काङ्क्षतं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।।32।।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥33॥

मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥34॥

अपि त्रैलोक्यराज्यस्यहेतोः किं नु महीकृते ।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥35॥

राज्य, सुख या इस जीवन से
क्या है लाभ कहें गोविन्द ?
जिनके हित हम इसे चाहते
खड़े युद्ध में वे सब वृन्द ।।
गुरुजन, पितृ, पुत्र, पितामह
मामा, ससुर, पौत्र, साले ।
सारे सम्बन्धी हैं आगे
लेकर शस्त्र तीर भाले ।।
वे अपना धन प्राण निछावर
करने को आतुर हे नाथ!
हे मधुसुदन! मुझे बतादो
क्या आएगा मेरे हाथ ?
वे समक्ष हैं खड़े हमारे
फिर इन सबको क्यों मारूं ?
मुझे मार दें भले कामना,
नहीं मुझे जीतूं हारूं ।।
हे जीवों के पालक! मन
तैयार न इनसे लड़ने को ।
भले मिले त्रैलोक्य राज्य भी
मैं आतुर हूं तजने को ।।

इस पृथ्वी की बात छोड़ दें
तीनों लोक तुच्छ है नाथ ।
उन्हें मार कौन-सी प्रसन्नता
मुझे मिलेगी इसके साथ ।।

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रास्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।36।।

ऐसे आततायियों का बध
करता हूं तो लगता है पाप ।
उचित नहीं कौरव पुत्रों
मित्रों का, बध करदूं मैं आप ।।
हे लक्ष्मीपति कृष्ण! बतायें
कौन लाभ मैं पाऊँगा ।
अपने ही कुटुम्बियों का बधकर
न धन्य हो जाऊँगा ।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम ।।37।।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।38।।

जो होते अभिभूत लोभ से
गर्हित हुआ समझो है चित्त ।
अपने ही जन को हतने को
मित्र-द्रोह में हुए प्रवृत्त ।।
गर विनष्ट परिवार हुआ तो
कितना बड़ा हुआ अपराध ?

पापकर्म में क्यों प्रवृत्त हो
ऐसा कर्म करें बन ब्याध ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनानतनाः ।
धर्मे नष्टे कुल कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

कुल का नाश अगर होता है
कुल परम्परा होती नष्ट ।
और शेषकुल भी अधर्म में
होता प्रवृत्त और हो भ्रष्ट ।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्ण सङ्करः ॥४०॥

जब कुल में अधर्म बढ़ जाता
कुल स्त्रियां हो जाती भ्रष्ट ।
औ' उनके सतीत्व पतन से
होती हीन संतति पा कष्ट ।।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४१॥

वृद्धि अवांछित संतानों की
कुल को कर देता है नष्ट ।
मिट जाती है कुल परम्परा
सब कुछ हो जाता है भ्रष्ट ।।
ऐसे पतित कुलों के पुरखे भी
नीचे गिर जाते हैं ।
उन्हें न मिलता पिण्डदान जल
पितरलोग पछताते हैं ।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥42॥

कुल परम्परा को विनष्ट
कर देती जो ऐसी संतान ।
दुष्कर्मों का बोझ, मिटा देता
कुल का सारा कल्याण ।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥43॥

मैंने गुरू परम्परा से यह
बात सुनी है हे भगवान ।
कुल का धर्म विनष्ट करे जो
करता वास नरक में आन ।।

अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥44॥

पाप कर्म करने को उद्यत
हम हो रहे ओह! विस्मय ।
राज्य भोगने की इच्छा से
प्रेरित हो पाने को जय ।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥45॥

शस्त्रधारी धृतराष्ट्र पुत्र गर
मुझे निहत्थे को मारे ।
तो यह मेरे हित श्रेयष्कर
होगा जान इसे प्यारे ।।

संजय उवाच – *एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।*
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥46॥

संजय ने तब कहा – इस तरह
युद्ध भूमि में हो लाचार ।
अर्जुन ने निज धनुष-बाण को
एक ओर रख दिया उतार ।।
और शोक-संतप्त चित्त से
रथ के आसन बैठ गया ।
कोमल हृदय भक्त के मन में
है कुछ होना नया-नया ।।

※ ※ ※

दूसरा अध्याय

‘ गीतासार ’

संजय उवाच – *तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।*
विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥1॥

शोकयुक्त अभिभूत करूण औ’
अश्रुपूर्ण आकुल वे नैन ।
अर्जुन की यह दशा देखकर
बोले मधुसूदन ये बैन ।।

श्रीभगवानुवाच – ***कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।***
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥2॥

तेरे मन में यह कल्मष
आया कैसे तू बोल सखे ?
अर्जुन से पूछा प्रभु ने
यह भाव कहां थे रहे रखे ?
जीवन के जो मूल्य जानता
उसके लिए न ये अनुकूल ।
इससे उच्चलोक ना मिलता
अपितु मिले अपयश के शूल ।।

क्लेब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥3॥

पृथापुत्र! इस हीन नपुंसकता को
भूले प्राप्त नहीं करना ।
शोभा तुम्हें नहीं देती यह
श्रेयष्कर तो इससे मरना ।।
शत्रुदमन! नित हृत की दुर्बलता का
कर दो तत्क्षण त्याग ।
और युद्ध के निमित्त खड़े हो
आगे आओ हे बड़भाग ।।

अर्जुन उवाच – ***कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।***
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥4॥

युद्धभूमि में किस प्रकार मैं
भीष्म द्रोण पर वार करूं ?
पूजनीय मेरे वे उनका
कैसे मैं अपकार करूं ?
वाण उलटकर मैं मारूंगा कैसे
बोले हे अरिसूदन ।
मुझे बताओ हे मधुसूदन
क्या यह उचित, विकल है मन ।।

गुरुनहत्वा हि महानुभावान
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रूधिरप्रदिग्धान् ॥5॥

ऐसे महापुरुष गुरुजन को
मारूं और फिर राज्य करूं ।
उससे अच्छा भीख मांगना
इस जगती में जीऊं-मरूं ।।

भले लाभ के इच्छुक वे हों
फिर भी तो गुरुजन हैं वे ।
उनका वधकर वस्तु उन्हीं की
भोगूं उनके रक्त सने ।।

न चेतद्विभः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ।।6।।

ज्ञात नहीं कुछ मेरे हित में
क्या गर्हित है, क्या है श्रेष्ठ ।
उन्हें जीतना या जीता जाना
उनसे कुछ लक्ष्य न दृष्ट ।।
धृतराष्ट्र के पुत्रों का बध
कर देते हैं जो हम नाथ ।
फिर क्यों हम जीवित रहते हैं
बात नहीं कुछ आती हाथ?
युद्धभूमि में फिर भी वे सब
मेरे आगे खड़े हुए ।
सभी मारने मरने के हित
समरक्षेत्र में अड़े हुए ।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।8।।

अपनी कृपणता और दुर्बलता के
कारण भूला दिया निज कर्म

सारा धैर्य खो चुका हूं मैं
समझ नही पाता कुछ मर्म ।।
अतः आपसे पूछ रहा हूं
मेरे हितकर क्या है कार्य?
निश्चित मुझे आप बतलायें
मेरे लिए अवश्य अनिवार्य ।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्य
च्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमाव सपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥8॥

कोई साधन नहीं दीखता
दूर कर सके जो यह शोक ।
सूख रहीं इन्द्रियां हमारी
असह तपन अन्तर उर लोक ।।
सब देवों पर आधिपत्य पा
पृथ्वी का निष्कंटक राज ।
अगर प्राप्तकर भी लेता हूं
विगत शोक क्या हूंगा आज?

सञ्जय उवाच – ***एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुड़ाकेशः परंतपः ।***
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तुष्णीं बभूव ह ॥9॥

संजय ने तब कहा – इस तरह
बोला कृष्ण से अर्जुन बैन ।
हे गोविन्द! न युद्ध करूंगा
हुआ मौन, कर नीचे नैन ।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥10॥

सेनाओं के मध्य खड़ा
अर्जुन ने प्रभु के शरण गहे ।
मानो हंसते हुए कृष्ण ने
अर्जुन से ये शब्द कहे ।।

श्रीभगवानुवाच – *अशोच्यानन्वसोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।*
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥11॥

तब प्रभु ने यह कहा – सोच करता क्यों
उनके हित तव मन?
नहीं शोक के वे कारण हैं
कैसा तेरा मूर्ख कथन ?
जो होते विद्वान किसी जीवित के
हित न करें वे शोक ।
मरे हुए के हित क्यों सोचे
हो जाओ तुम अभी अशोक ।।

न त्वेवावहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वय मतः परम् ॥12॥

ऐसा क्या है हुआ कभी
जब मैं न रहा था तुम न रहे ।
ये समस्त राजन न रहेंगे
या पहले ये नहीं रहे ।।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥13॥

जिस प्रकार इस तन में आत्मा
बाल, तरूण, जरा रूप धरे ।
और अग्रसर होता रहता
नियत काल पर मरे जरे ।।

(होती मृत्यु जब शरीर की
आत्मा कर नव तन धारण ।
धीर पुरुष करते न मोह
लखते परिवर्त्तन का कारण ।।)

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।14।।

सुख दुःख का यह क्षणिक उदय
फिर उनका होना अन्तर्धान ।
सर्दी-गर्मी की ऋतुएं ज्यों
आती-जाती एक समान ।।
हे भारत! वे इन्द्रियबोध से
लेते जन्म सहज ये जान ।
अविचल भाव रखे उसमें नर
करे सहन बिन हुए म्लान ।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।15।।

सुख दुःख में जो थिर रहता
लख दोनों को एक समान ।
निश्चित मुक्ति प्राप्त करता वह
मुक्तियोग्य वह अर्जुन! जान ।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ।।16।

तत्वदर्शियों ने बतलाया
असत् न चिर तक टिक पाता ।
सत्य न पर परिवर्तित होता
चिरस्थायी है रह जाता ।।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥17॥

अनिवाशी तुम उसे समझना
जो सारे शरीर में व्याप्त ।
उसे नष्ट कर सके न कोई
वह आत्मा अव्यय है आप्त ।।

अन्तवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥18॥

शाश्वत जीवों के शरीर का
निश्चित अंत हुआ करता ।
यह भौतिक शरीर मिट जाता
जीव अमर है अमरलता ।।

य एनं वेति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौन विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥19॥

समझे इसे (जीवात्मा) मारनेवाला
या फिर मरा हुआ माने ।
अज्ञानी दोनों ही होते
वे रहस्य को क्या जाने ?
आत्मा हनता नहीं किसी को
उसे न हन सकता कोई ।
जीवात्मा अबध्य है जानो
इसे न छू सकता कोई ।।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥20॥

किसी काल में जन्म न लेता
आत्मा कभी नहीं मरता ।
नित्य अजन्मा शाश्वत है वह
नित नव देह ग्रहण करता ।।

वेदाविनाशिनं नित्यंय एनमजव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं धातयति हन्ति कम् ॥21॥

शाश्वत, अव्यय और अजन्मा
अविनाशी आत्मा का रूप ।
जान रहा जो व्यक्ति पार्थ
वह कभी न गिरता अन्धे-कूप ।।
आत्मा भला किसी को कैसे
मारे या मरवा सकता ?
न्यायाधीश को कैसे कोई
दोषी है ठहरा सकता ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य
न्यानि संयाति नवानि देही ॥22॥

जैसे वस्त्र प्रवीण त्याग कर
नए वस्त्र करते धारण ।
व्यर्थ शरीर त्याग आत्मा
बनता नव-तन धारण कारण ।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥23॥

शस्त्र काट सकते न इसे
ना अग्नि कभी जला सकती ।
जल ना इसे भिंगो सकता है
वायु न इसे सूखा सकती ।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।24।।

अघुलनशील अखण्डित आत्मा है
यह इसको जानो तुम ।
इसे जलाना और सुखाना
ना संभव पहचानो तुम ।।
यह शाश्वत, अविकारी, स्थिर
सदा एक रहने वाला ।
सर्वव्याप्त रहता वह उसको
समझेगा गहने वाला ।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।25।।

परे कल्पना से आत्मा है
होता कभी न परिवर्तित ।
यह अव्यक्त सूक्ष्म सत्ता को
समझ आज अर्जुन निजहित ।।
इसे जानकर भी तन के हित
व्यर्थ कर रहे हो तुम शोक ।
जन्म गया यह व्यर्थ सोचते
खो जाएगा कल का लोक ।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।26।।

किन्तु यदि यह सोच रहे तुम
आत्मा लेता जन्म अरे ।
और मरे, फिर महाबाहु
क्यों इसके हित तुम शोक करे ?

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न तु शोचितुमर्हसि ॥27॥

जिसने जन्म लिया है उसका
निश्चित है मरना जानो ।
पुनर्जन्म मरने के आगे भी
होगा यह तुम मानो ।।
जिससे बचा नहीं जा सकता
वह कर्त्तव्य करो पालन ।
शोक नहीं करना अच्छा है
क्यों है रूग्न तुम्हारा मन ?

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥28॥

रहते हैं अव्यक्त आदि में
और मध्य में होते व्यक्त ।
जब विनष्ट होते फिर खोते
जीव अन्त में फिर अव्यक्त ।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित ॥29॥

कोई देखता इस आत्मा को
विस्मय की आँखों से जान ।
और कोई विस्मय से ही
बतलाता है इसकी पहचान ।।
और श्रवण करता कोई
विस्मय से ही कोई अज्ञान ।
किन्तु कोई इसके हित सुनकर
समझ नहीं पाते नादान ।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।30।।

उसका बध न किया जा सकता
जो शरीर में रहता है ।
अतः जीव के हित चिन्ता क्यों
क्यों प्रवाह में बहता है ?

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।31।।

क्षत्रिय हो तुम अतः पालने का
विशेष कर धर्म विचार ।
धर्म के लिए युद्ध करे जो
वह है श्रेष्ठ सुजन संसार ।।
अतः नहीं संकोच करो तुम
करो धर्म निज का पालन ।
युद्धभूमि में मर कर भी
पाता क्षत्रिय उत्तम आसन ।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृत्तम् ।
सुखिनः क्षत्रियाःपार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।32।।

मिलते जिन्हें युद्ध के ऐसे अवसर

वे सुख पाते हैं ।

क्षत्रिय का वे धर्म निभाते

स्वर्ग लोक पा जाते हैं ।।

अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥33॥

किन्तु यदि तुम निजस्वधर्म को

करते अगर नहीं सम्पन्न ।

तब कर्त्तव्य उपेक्षा का फल

पाप लगेगा बने विपन्न ।।

यश खो दोगे त्याग धर्म को

पाओगे तब नरक निवास ।

करके युद्ध पलायन तुम

रच दोगे स्वयं अधम इतिहास ।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥34॥

लोग तुम्हारे अपयश का ही

नित्य करेंगे अपयश गान ।

और महत जन के हित अपयश

सदा मृत्यु से बढ़कर जान ।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥35॥

जिन जिन महत युद्धवीरों ने

तेरे यश का गान किया ।

और तुम्हारे नाम कीर्तिका
हरदम है सम्मान किया ।।
डरकर भागे समर भूमि से
सोचों क्या वे सोचेंगे ?
तुम्हें तुच्छ मानेंगे वे
औ' तुम्हें हीन लख नोचेंगे ।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्व सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।36।।

शत्रु तुम्हारे कटु शब्दों के
बाण चलाकर बेधेंगे ।
लख तेरा सामर्थ्य सभी
उपहास करेंगे ले-देंगे ।।
इससे दुःखदायी क्या होगा
तेरे लिए बता अर्जुन ।
जैसे मिटा तुम्हारा सब कुछ
धैर्य, शौर्य सारे सदगुण ।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुतिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।37।।

अगर युद्ध में मारे जाते हो
तो तुमको स्वर्ग मिले ।
अगर जीतते धरा मिलेगी
करो राज्य सुख कमल खिले ।।
अतः दृढ़संकल्प करो
औ' होकर खड़े करो अब युद्ध ।
विजय मिलेगी निश्चित मानो
हो जाएंगे कर्म विशुद्ध ।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥38॥

तुम सुख-दुःख औ' हानि-लाभ को
विजय-पराजय का तज ध्यान ।
बिना युद्ध के लिए युद्धकर
नहीं लगेगा पाप निशान ।।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥39॥

बैश्लेषिक (सांख्य) अध्ययन से मैंने
किया ज्ञान का यह वर्णन ।
अब निष्काम कर्म करना
मैं तुम्हें बताता हूं तुम सुन ।।
पृथा पुत्र! गर इसी ज्ञान से
कर्म करोगे तो जानो ।
कर्मबन्ध से हुए मुक्त तुम
निश्चित सत्य इसे मानो ।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥40॥

इस प्रयास में होती न हानि
और नहीं होता है ह्रास ।
अपितु प्रगति पथ पर चलता नर
मिट जाता भय विकट अयास ।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरूनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥41॥

जो चलते इस पथ पर वे
अपने उद्देश्य पर दृढ़ रहे ।
उनका एक लक्ष्य होता है
हे कुरूनन्दन! उसे गहे ।।
जो दृढ़प्रतिज्ञ ना हैं उनकी
है बुद्धि बंटी हुई जानो ।
शुभ फल हेतु ना कर्म करे
हैं भटक रहे ऐसा मानो ।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।42।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां योगैश्वर्यगतिं प्रति ।।43।।

जो अल्पज्ञ, वेदमंत्रों के शब्द सुधा से
जाते भर ।
स्वर्गप्राप्ति अच्छे जन्मों की
इच्छा करते इधर-उधर ।।
शक्ति आदि के हित वे करते
विविध सकाम कर्म वे नर ।
भोग और ऐश्वर्य चाह में
वे जाते हैं सहज बिखर ।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां नयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।44।।

इन्द्रियभोग भौतिकता के प्रति
होते जो अतिशय आसक्त ।
वस्तुमोह से वे ग्रस जाते
होते कभी नहीं प्रभु भक्त ।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥45॥

वेदों में प्रकृति के तीनों गुणों का
मिलता है वर्णन ।
उन गुणों से उपर उठजा
कहा मान तू हे अर्जुन ।।
छोड़ो तुम समस्त द्वैतों को
लाभ सुरक्षा की चिन्ता ।
आत्म परायण बनो मुक्ति का
खाओ फल, क्यों तरू गिनता ।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेसु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥46॥

जैसे सारा कर्म कूप का
क्षण में करे जलाशय जान ।
वेदों का जो कर्म समझता
क्यों भटके अन्यत्र सुजान ।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥47॥

कर्म करो अधिकार तुम्हें है
किन्तु न फल का है अधिकार ।
कारण निज कर्मों के फल का
मानों नहीं स्वयं को सार ।।
और कर्म को ना करने में
होना कभी नहीं आसक्त ।
है आसक्ति बन्ध का कारण
किया सभी शास्त्रों ने व्यक्त ।।

योगस्थः कुरू कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥48॥

हे अर्जुन! जय और पराजय की
समस्त आसक्ति त्याग ।
हो समभाव कर्म कर अपना
समता योग यही है याग ।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाधनञ्जय ।
बुद्धो शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥49॥

दूर रहो गर्हित कर्मों से
सुनो धनञ्जय मेरी बात ।
उसी भाव से शरण ग्रहण कर
प्रभु का भक्त बनो अवदात ।।
अपने कर्म फलों का जोनर
भोग चाहते, कृपण रहे ।
सारे कर्म छोड़कर प्रभु पर
प्रभु-सा उनके साथ बहे ।।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥50॥

जो भक्ति में लगा हुआ नर
भले-बुरे कर्मों को त्याग ।
मुक्त इसी जीवन में होता
कर प्रभु से अपना अनुराग ।।
अतः योग के हित प्रयत्न कर
यही कार्य कौशल सारा ।
जो भटका बस भटक गया वह
सब पाकर भी सब हारा ।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥51॥

इस प्रकार भगवद्‌भक्ति में लग
तर जाते ऋषि-मुनि ।
कर्म फलों से मुक्त हो गए
जाने कितने भक्त गुनि ।।
जन्म-मृत्यु के चक्रों से वे
सहज छूट जाते जानो ।
परे दुःखो के पार धार के
जाते, इसे सत्य मानो ।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥52॥

बुद्धि तुम्हारा मोह सधन वन को
जब पार करे जानो ।
अन्यमनष्क तुरंत हो जाओगे
यह बात सत्य मानो ।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥53॥

वेदों की सुमधुर भाषा से
मन तेरा न विचलता हो ।
आत्म-साक्ष्य की थिर समाधि वह
सिद्धिमार्ग पर चलता हो ।।
दिव्य चेतना तुम्हें मिलेगी
औ' मेरा सानिध्य मिले ।
कृष्ण भावना भावित जो नर
उसका अन्तर कमल खिले ।।

अर्जुन उवाच – *स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।*
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥54॥

क्या लक्षण स्थितप्रज्ञ की
मुझे बतायें हे भगवान!
वह कैसे बोलता और
उसकी भाषा की क्या पहचान ?
बैठे वह किस तरह और
कैसे चलता है इसे कहें ?
आये बात समझ में मेरी
कैसे वह जग बीच रहे ?

श्रीभगवानुवाच – *प्रजहाति यदाकामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।*
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥55॥

कहा कृष्ण ने – पार्थ! सुनो
नर करे कामनाओं का त्याग ।
इन्द्रियतृप्ति मनोरथ जिससे
उत्पन्न होते हैं अनुराग ।।
और इस तरह विशुद्ध हुआ मन
आत्मा में संतुष्ट रहे ।
दिव्य चेतना है विशुद्ध वह
प्राप्त किया सब पुष्ट रहे ।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते ॥56॥

जो त्रयतापों के होने पर भी
न हुआ मन में विचलित ।
पा सुख भी प्रसन्न ना होता
स्थिर है जिसका यह चित्त ।।

जो आसक्ति, क्रोध, भय से है मुक्त
वही है चतुर सुजान ।
स्थिर मन है मुनि कहलाता
वह नर सचमुच बहुत महान ।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।57।।

इस भौतिक जग में जो नर
शुभ में न कभी हर्षित होता ।
और अशुभ से नहीं घृणा है
सदा ज्ञान में स्थित होता ।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।58।।

जिस प्रकार कछुआ समेट लेता
अपने अंगों को आप ।
उसी तरह नर भी विषयों से
खींच करे मन को निष्पाप ।।
पूर्ण चेतना में दृढ़ होता
स्थिर होता है वह ज्ञान ।
महत् कार्य के लिए फैलता
फैलाता प्रभु का गुणगान ।।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।59।।

इन्द्रियभोग से भले निवृत्त
हो जाये देहधारी यह जीव ।
इन्द्रियभोग की इच्छा रहती बनी
सदा अतिसूक्ष्म अतीव ।।

लेकिन उत्तम रस का अनुभव होता
तब वह कर्म तजे ।
और भक्ति में थिर हो जाता
निज प्रभु का ही नाम भजे ।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।60।।

हे अर्जुन! इन्द्रियां प्रबल औ’
वेगवान इतनी होती ।
जो विवेक से पूर्ण पुरुष है
उसके भी मन मथ देतीं ।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।61।।

जो इन्द्रियों को पूर्णतया
अपने वश में रखकर संयम ।
और चेतना मुझ में कर थिर
पालन करता आप नियम ।।
वह मनुष्य स्थिर बुद्धि है
पाता वही भक्ति का स्वाद ।
केन्द्र बिन्दु पर टिका रहे मन
चरण कमल का परम प्रसाद ।।

ध्यायतो विषयान्पुन्सः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ।।62।।

इन्द्रियविषयों के चिंतन से
आसक्ति गहरा होता ।
आसक्ति से काम उपजता
काम क्रोध को है ढोता ।।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥63॥

और क्रोध से पूर्ण मोह होता
उत्पन्न इसे मानो ।
और मोह से स्मरण शक्ति
विभ्रम होता इसको जानो ।।
भ्रमित होती स्मरण शक्ति तब
बुद्धिनष्ट हो जाती है ।
बुद्धि नष्ट होने पर नर को
भव-कूप में गिराती है ।।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्दियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥64॥

किन्तु समस्त रागद्वेषों से
जो हो जाता मुक्त सुजन ।
इन्द्रिय संयम कर समर्थ बन
पाता प्रभु की कृपा-नयन ।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥65॥

कृष्णभावनामृत तुष्ट नर
त्रय तापों को पार करे ।
तुष्ट चेतना से थिर बुद्धि होती
निज उद्धार करे ।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥66॥

कृष्णभाव से जुड़ा नहीं जो
दिव्य नहीं बुद्धि उसकी ।
और न मन स्थिर होता है
शान्ति कहाँ, सिद्धि उसकी ?
और शान्ति के बिना कहीं
क्या कोई सुख पा सकता है?
वह अशान्त औ' दुःखी जगत में
जिन्दा पर वश झंखता है ।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हृदति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्यसि ।।67।।

जिस प्रकार तैरती नाव को
वायु प्रवाह बहा ले जाय ।
उसी तरह इन्द्रियां विचरती
मन भटका, कुछ नहीं उपाय ।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।68।।

अतः सुनो हे महाबाहु!
वश में जिसकी इन्द्रियां रहे ।
अपने अपने विषय छोड़कर
परम पुरुष की बात कहे ।।
निस्संदेह उसकी बुद्धि
स्थिर है उसे समझ लेना ।
एक राह धर विरत न होता
कभी ध्येय से बदले ना ।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।69।।

सब जीवों के लिए रात्रि जब
आत्मसंयमी के हित भोर ।
और जीव जागरणकाल जो
रात्रि, मुनि के हित चहुंओर ।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥70॥

जैसे नदियों का प्रवाह
सागर में नित्य प्रवेश करे ।
इच्छाओं के इस प्रवाह में भी
जो नर थिर वेश वरे ।।
जो थिर है सदैव वह ही तो
शान्ति को पा सकता है ।
और दूसरा नहीं, सही
मंजिल तक वह जा सकता है ।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥71॥

जिसने इन्द्रियतृप्ति की सारी
इच्छाएं परित्याग किया ।
जो इच्छा से रहित हो गया
उसने सब जप याग किया ।।
त्याग दिया जिसने ममता को
अहंकार भी हुआ विलीन ।
सचमुच शान्ति वहीं पा सकता
अधिकारी वह परम प्रवीण ।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनं प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥72॥

यह आध्यात्मिक और ईश्वरीय
जीवन का पथ है पकड़ो ।
जिसे प्राप्तकर मोह न होता
आगे बढ़ो, नहीं जकड़ो ।।
अगर अंत जीवन के क्षण में
भी जो मन यह भाव भरे ।
भगवतधाम प्रवेश करे नर
निश्चित भव से नाव तरे ।।

※ ※ ※

तीसरा अध्याय

' कर्मयोग '

अर्जुन उवाच – ***ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।***
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥1॥

यदि सकाम कर्मों से बुद्धि को हैं
श्रेष्ठ समझते आप ।
तो फिर घोर युद्ध में मुझको
लगा रहे क्यों? यह संताप ।।
हे केशव! हे हे जनार्दन!
आप मुझे इसका दें ज्ञान ।
समझ न आता भटक गया मैं
कैसे हो इसकी पहचान ।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥2॥

मिले जुले उपदेश श्रवण कर
मेरी बुद्धि हुई मोहित ।
अतः कृपा कर मुझे बताएं
कैसे होगा मेरा हित ।।
ज्ञान कर्म में कौन लाभप्रद
सर्वाधिक, ये बतलायें ।
समझ न पाता है मेरा मन
इसे आप ही समझायें ।।

श्रीभगवानुवाच– *लोकेऽस्मिन्द्विविद्या निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।*
ज्ञानयोगेन साख्यानां कर्म योगेन योगिनाम् ॥3॥

कहा प्रभु ने – हे अर्जुन निष्पाप
बताया है पहले ।
दो प्रकार के नर होते हैं
आत्मसाक्ष्य करने वाले ॥
कुछ प्रयास करते हैं इसको
ज्ञानयोग से समझ सकें ।
तो कुछ भक्तियोग के द्वारा
लक्ष्य भाव को मूर्त रखें ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥4॥

कर्मविमुख होकर नर कैसे
कर्मफलों से छूट पाये ।
और नहीं सन्यास साध के
सिद्धि कोई पा जाये ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥5॥

अर्जित करता गुण प्रकृति से
विवश रहे करने को कर्म ।
क्षण एक व्यर्थ न बैठ सके वो
उसे पालना होता धर्म ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥6॥

वश में तो कर कर्मइन्द्रियां
पर मन करे विषय चिंतन ।
निश्चित निज को ठगता वह नर
मिथ्याचार करे बन ठन ।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।7।।

कोई निष्ठावान व्यक्ति
कर्मेन्द्रियां करे वश में ।
मन के द्वारा यह प्रयत्न
लाता है खींच भक्ति रस में ।।
बिना किसी आसक्तिभाव के
कर्मयोग जो करता है ।
वह है अति उत्कृष्ठ जान लो
प्रभु भक्ति से भरता है ।।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेद कर्मणः ।।8।।

नियत कर्म करना आवश्यक
अतः करो नित अपना कर्म ।
कर्म न करने से है बेहतर
करना कर्म जान यह मर्म ।।
बिना कर्म के तो शरीर-निर्वाह
नहीं है हो सकता ।
करता कर्म विमल अंतर को
भौतिक कल्मष् धो रखता ।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार ।।9।।

श्री विष्णु के लिए यज्ञ के रूप
कर्म करते जाओ ।
नहीं करोगे तो भौतिक
जग बन्धन में बन्धते जाओ ।।
अतः सुनो हे कुन्तिपुत्र!
उनके हित ही सब कर्म करो ।
बन्धन मुक्त करें वे निश्चित
अतः उन्हीं के धर्म चरो ।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।10।।

सृष्टि के प्रारम्भकाल में
रचा ब्रह्म ने सब प्राणी ।
विष्णुयज्ञ हित नर-सुर सबको रचा
किये फिर अगुआनी ।।
कहा– यज्ञ कर, सुखी रहोगे
क्योंकि यह शुभ कर्म विधान ।
युक्ति-मुक्ति निश्चित पाओगे
पा सकते परमेश्वर ज्ञान ।।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यस्थ ।।11।।

यज्ञों से होकर प्रसन्न
सब देव हरस हरसायेंगे ।
बंध जाओगे देव सूत्र से
औ' नित सुखी बनायेंगे ।।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।12।।

जीवन की विभिन्न आवश्यकताएं
पूर्ण करें वे देव ।
यज्ञ कर्म से हो प्रसन्न
फल प्राप्त करे बढ़ता हिमेव ।।
पाता जो नर उपहार
बिना अर्पण देवों को भोग करे ।
निश्चित वह चोर कहाता है
चाहे जो भी उद्योग करे ।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।13।।

सब प्रकार के पापों से
हो जाते मुक्त प्रभु के भक्त ।
क्योंकि वे अर्पित प्रसाद ही
खाते, हो अतिशय अनुरक्त ।।
अन्य लोग जो इन्द्रिय सुख के ही
निमित्त करते भोजन ।
निश्चित पाप अन्न वे खाते
दूषित होता उनका मन ।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।14।।

जितने भी प्राणी हैं जग में
सभी अन्न पर हैं आश्रित ।
और अन्न वर्षा से होता
वर्षा यज्ञ करे निश्चित ।।
यज्ञ नियत कर्मों से होता
प्रभु का गान और कीर्तन ।
नित रत रहकर भक्ति ज्ञान से
पावन हो जाता है मन ।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥15॥

वेदों के नियमित कर्मो का
है विधान यह जान सखे ।
और वेद साक्षात ब्रह्म से
उद्भूत है ये मान सखे ।।
सर्वव्याप्त वह ब्रह्म यज्ञ कर्मों में
सदा छिपा रहता ।
दिव्य वेद से कर्मज्ञान का
निश्चित दिशा मिला करता ।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥16॥

इस प्रकार वेदों द्वारा स्थापित
यज्ञ-चक्र का पालन ।
जो मानव जीवन में करता नहीं
सुनो हे प्रिय अर्जुन!!
वह निश्चित व्यतीत करता है
पाप भरा कलुषित जीवन ।
केवल करता तुष्टि इन्द्रिय
वह नर अधम व्यर्थ धर तन ।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥17॥

किन्तु व्यक्ति जो आत्मा में ही
लेता है अतुलित आनंद ।
जिसका जीवन आत्मासाक्ष्य से
युक्त मुक्त होता स्वच्छंद ।।

अपने में ही पूर्णतया
संतुष्ट रहा जो करता है ।
उसके लिए न करणीय कुछ
वह उन्मुक्त विचरता है ।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥18॥

जो होता स्वरूपसिद्ध नर
उसके लिए नियत ना कर्म ।
और न ऐसा कर्म ना करे
प्रतिबन्धित कोई ना धर्म ।।
निर्भर नहीं रहा करता है
अन्य जीव पर वह जानो ।
शरणागत होता वह प्रभु का
प्रभु का वरदहस्त मानो ।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
आसक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥19॥

बिना हुए आसक्त मनुज दे त्याग
कर्मफल, कर्म करे ।
अनासक्त हो कर्म करे तो
परमब्रह्म को क्यों न वरे?

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥20॥

सिद्धि प्राप्त कर लिए जनक राजा ने
नियत कर्म करके ।
करो कर्म जनशिक्षा के हितं
प्रभु का सिर्फ ध्यान धरके ।।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥21॥

महापुरुष जो जो आचरते
उनका सब अनुशरण करे ।
अपने अनुकरणीय कार्य से
नित्त नवनव आदर्श वरे ।।
यह सम्पूर्ण विश्व उसके ही
पदचिन्हों पर चलता है ।
लक्ष्य प्राप्त करता अपना
निश्चय ना कभी बदलता है ।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥22॥

तीनों लोकों में मेरे हित
कोई नियत नहीं है कर्म ।
नहीं अभाव है किसी वस्तु का
नहीं जरूरत है निज धर्म ।।
तो भी नियत कर्म करने को
मैं रहता हरदम तैयार ।
पृथापुत्र! यह बात समझले
मर्म कर्म का क्या है सार ?

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥23॥

नियत कर्म मैं सावधान हो
नहीं करूं तो सुन हे पार्थ!
सब मेरा अनुगमन करेंगे
यही मर्म इसमें निहितार्थ ।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥24॥

नियत कर्म यदि नहीं करूं मैं
सारे लोग नष्ट हो जाय ।
जन समुदाय अवंछित होगा
मूल बनूंगा मैं निरूपाय ।।
सभी प्राणियों की शान्ति का
बनूं विनाशक तुम जानो ।
विधि विधान का हुआ अनादर
अवतरता यह सच मानो ।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥25॥

अज्ञानीजन फलासक्ति से
जिस प्रकार करते हैं कार्य ।
उसी तरह विद्वदजन सत्पथ चलें
असक्त पार्थ अनिवार्य ।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥26॥

अज्ञानी सकाम कर्मों में
हो आसक्त करें निज कर्म ।
रोके नहीं कार्य करने से
विद्वानों का है यह धर्म ।।
विचले नहीं कभी मन उनका
भक्ति भाव से कार्य करें
सब प्रकार के कार्य करायें
उनसे, उनका हाथ धरें ।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥27॥

अहंकार के ही प्रभाव से
मोहग्रस्त यह जीव अरे ।
कर्त्ता मान स्वयं को बैठे
सब कार्यों का अहं भरे ।।
जबकि सारे कार्य प्रकृति के
त्रयगुण ही करते सम्पन्न ।
अहंकारवश ही नर लेता श्रेय
स्वयं कर कर्म विभिन्न ।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥28॥

भक्ति भावमय कर्म और
वह कर्म सकाम समझ ले भेद ।
महाबाहो वह परमसत्य का
है ज्ञाता करता उद्‌भेद ।।
उलझाता है नहीं स्वयं को
कभी इन्द्रियतृप्ति में जान ।
होता तत्ववित वह जानो
अनासक्त वह परम सुजान ।।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥29॥

मायागुण से मोहग्रस्त हो
अज्ञानी नर पूर्णतया ।
हो आसक्त कर्म भौतिक में
करता है नित कर्म नया ।।

यद्यपि उनके ज्ञान अभाव के
कारण, कर्म अधम होते ।
किन्तु चाहिए ज्ञानवान को
उन्हें न रोके, जल सोते ।।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।30।।

अपने सारे कर्म समर्पित
मुझमें कर दो हे अर्जुन ।
मेरे पूर्ण ज्ञान से भरकर
प्रवृत्त कार्य में हो जा तुम ।।
आकांक्षा से रहित लाभ की
दावा करो नहीं अधिकार ।
त्यागो निज आलस्य उठो
लड़ने को हो जाओ तेयार ।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।31।।

जो नर अपना कर्म करे
मेरे आदेशों के अनुसार ।
इर्ष्यारहित और श्रद्धा से
पालन करे उचित आचार ।।
वे सकाम कर्मों के बन्धन
से हो जाते मुक्त सहज ।
कृष्ण भावनामृत को पाते
वरते निष्ठा नेम महज ।।

ये त्वेदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्ठानचेतसः ।।32।।

किन्तु उपेक्षा जो इर्ष्यावश
इन उपदेशों की करते ।
ज्ञान रहित दिग्भ्रमित रहें वे
सिद्धि नहीं पाते, मरते ।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।33।।

ज्ञानवान भी कार्य करे है
निज प्रकृति के ही अनुसार ।
तीन गुणों से प्राप्त प्रकृति का
तदनुसार होता व्यवहार ।।
कहो दमन से क्या हो सकता
कुछ भी नहीं, धरो वह ध्यान ।
नर जैसा करता है भरता
नियम प्रकृति का एक समान ।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।34।।

सभी इन्द्रियों के विषयों में
सम्बन्धित होते हैं राग ।
उन्हें व्यवस्थित करने के हित
होते नियम बने अनुभाग ।।
ऐसे रागद्वेष के वश में
होना नहीं चाहिए जान ।
आत्मसाक्ष्य के मार्ग विरोधी
अवरोधक होते धर ध्यान ।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।35।।

अपने नियत कर्म करने में
अगर कहीं होता है दोष ।
तो श्रेयष्कर है दूजों का
कर्म करे विधिवत् रख होश ।।
करते हुए कर्म निज मरना
है उत्तम रखना यह ध्यान ।
कर्म पराये में प्रवृत्त हो
करे, अविद्या की पहचान।।
अन्य किसी के मार्ग अनुसरण
करना बड़ा भयावह है ।
नियत रहे अपने कर्मों में
श्रेयष्कर सुखदायक वह है ।।

अर्जुन उवाच – ***अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।***
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥36॥

अर्जुन ने तब कहा – वृष्णिवंशी!
यह मुझे बताओ तुम ।
नहीं चाहते हुए पाप क्यों करता नर
समझाओ तुम ।।
ऐसा लगता बलपूर्वक
कर्मों में कोई लगाता है ।
क्या रहस्य है इन कर्मो का
समझ नहीं कुछ आता है ।।

श्रीभगवानुवाच – ***काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।***
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥37॥

हे अर्जुन! इसका कारण
सम्पर्क रजोगुण काम रहे ।
और बाद में क्रोधरूप
धारण करता नर धार बहे ।।
क्रोध सर्वभक्षी, पापी, शत्रु है
जान रहा जग है ।
काम न हो सन्तुष्ट
क्रोध उपजे जीवन में पग-पग है ।।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृत्तो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।38।।

जिस प्रकार धूएं से अग्नि
ढंक जाता दर्पण पर धूल ।
गर्भाशय से आवृत्त होता
जैसे भ्रूण कूल-प्रतिकूल ।।
उसी तरह जीवात्म काम की
आवृत्तियों से ढंक जाता ।
समझ नहीं पाता नर इसको
सहज ठगा-सा रह जाता ।।

आवृत्तं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।39।।

जीवात्मा की शुद्ध चेतना
कामरूप शत्रु ढंकता ।
होता कभी न तुष्ट जान लो
अग्नि समान सदा जलता ।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।40।।

काम निवास किया करता
इन्द्रियां बुद्धिमन के घर में ।
वास्तविक ज्ञान को ढंक मोहित
करता वह नर को अंतर में ।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ् ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञान नाशनम् ।।41।।

भरतवंशियों में वरेण्य तुम
हे अर्जुन! मम बात सुनो ।
पहले ही वश करो इन्द्रियां
काम पाप पर घात हनो ।।
आत्मसाक्ष्य औ' दिव्यज्ञान का
यह बाधक विनाशकर्त्ता ।
तुम बध इसका करो, पातकी है यह
शीघ्र नहीं मरता ।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।42।।

कर्म इन्द्रियां जड़ पदार्थ की
और अपेक्षा होती श्रेष्ठ ।
और इन्द्रियों से बढ़कर मन
होता समझ इसे नर श्रेष्ठ ।।
मन से भी है उच्च बुद्धि
औ' बुद्धि से है आत्म बड़ा ।
अतः आत्म के निज स्वरूप को
सहज समझना बड़ा कड़ा ।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥43॥

इस प्रकार हे महाबाहु अर्जुन!
भौतिक इन्द्रिय, मन, बुद्धि, ज्ञान ।
अपने को इससे इतर समझ
अपने को इससे परे मान ।।
कृष्ण भावनामृत में थिर कर
मन को सावधान करना ।
कामरूप दुर्जेय शक्ति को जीत
ध्येय तक तुम बढ़ना ।।

※ ※ ※

चौथा अध्याय

' दिव्यज्ञान '

श्रीभगवानुवाच – *इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।*
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥1॥

कहा कृष्ण ने – अमर योग विधा का
प्रथम प्रचार किया ।
मैंने सूर्यदेव को ही पहले था
यह उपदेश दिया ।।
विवस्वान ने मनुज पिता
मनु को उपदेश दिया जानो ।
मनु ने फिर इक्ष्वाकु नृपत्ति को
उपदेशा इसको मानो ।।

एवं परम्यराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥2॥

इस प्रकार विज्ञान परम यह
गुरु परम्परा से आया ।
राजर्षि ने इसी विधि से
समझा इसे और पाया ।।
किन्तु कालक्रम में परम्परा
छिन्न हो गयी बची नहीं ।
यथारूप में लुप्त हो गया
महत ज्ञान ज्यों जंची नहीं ।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥3॥

यह प्राचीन योगविद्या
मुझसे जुड़ने का ज्ञान सुनो ।
तुम हो मेरे भक्त-मित्र
कह दिया दिव्य यह रहस्य गुनो ।।

अर्जुन उवाच – ***अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।***
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥4॥

अर्जुन ने तब कहा – नाथ!
वे सूर्यदेव आपसे बड़े ।
फिर कैसे समझूं उपदेशे उन्हें
आपसे पूर्व खड़े ।।

श्रीभगवानुवाच – ***बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।***
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥5॥

कहा कृष्ण ने – तेरे-मेरे
जन्म अनेक व्यतीत हुए ।
मुझे स्मरण तुम विस्मृत हो
किये सभी-परतीत नये ।।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥6॥

यद्यपि मैं अविनाशी औ'
अजन्मा हूं पर यह जानो ।
सब जीवों का स्वामी हूं मैं
मुझको ही सब कुछ मानो ।।

अपने आदि दिव्यरूपों में
मैं हर युग में आता हूँ ।
और सभी को समय-समय पर
सत्य-असत्य दिखाता हूँ ।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।7।।

होता जब भी पतन धर्म का
औ' अधर्म बढ़ जाता है ।
तब-तब मैं अवतरित हुआ करता
यह शास्त्र बताता है ।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ।।8।।

करने को उद्धार भक्त का
और दुष्ट का क्षय करने ।
आता हूँ मैं हर युग में ही
सदा धर्म का ध्वज धरने ।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।9।।

हे अर्जुन! मेरे इन दिव्य
प्रकृति-कर्मों को जो जाने ।
पुनर्जन्म पाता न कभी वह
पाये परमधाम माने ।।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।10।।

आसक्ति भय क्रोध मुक्त हो
जो आये मम शरण सुजान ।
पूर्णलीन हो गए मुझी में
भूतकाल में पा शुचि ज्ञान ।।
सबने दिव्य प्रेम पाया है
जिसने भी मुझको पाया ।
वो पवित्र हो गया, और
भवसागर पार उतर आया ।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥11॥

जो जिस भाव लिए आता है
शरण हमारी सुन हे पार्थ!
उसके ही अनुरूप दिया करता
मैं फल उसके निमितार्थ ।।
सभी व्यक्ति औ' सब प्रकार से
मेरा पथ अनुगमन करें ।
केन्द्रबिन्दु में मैं हूं जानो
मुझको ही सब नमन करें ।।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥12॥

इस जग में सकाम कर्मों में
सिद्धि चाहते हैं जो नर ।
तदनुरूप पूजा करते वे
अपने इच्छित देव-पितर ।।
फल सकाम कर्मों का तत्क्षण
मिल जाता है निस्संदेह ।
इच्छा के अनुरूप गगन से
बरसा करते हैं नित मेह ।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥13॥

सहज प्रकृति के तीन गुणों में
उनसे मिले हुए जो कर्म ।
मेंने चातुर्वर्ण्य बनाये
चार विभाग समझ ये मर्म ।।
यद्यपि मैं सृष्टा हूं इनका
किन्तु जान लो तुम इतना ।
इतने पर भी अव्यय और अकर्त्ता
रहता सदा बना ।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥14॥

मुझपर ना पड़ता प्रभाव है
किसी कर्म का यह मानो ।
और कर्मफल की न चाहना
मैं करता हूं यह जानो ।।
जो इस निहित सत्य को जाने
औ' इस पर जो करे विचार ।
वह भी कर्मों के बन्धन से
कभी न बन्धता, मुक्त उदार ।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरू कर्मैव तस्मात्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥15॥

लखकर दिव्य प्रकृति को मेरी
किया कर्म सबने हो लीन ।
मुक्त आत्म वे सभी शास्त्र
बतलाते हैं वे कथा प्रवीण ।।

अतः अनुसरण उनके पदचिह्नों का
कर आगे बढ़ना ।
तदनुरूप कर्त्तव्य निभाओ
उच्च शिखर पर तुम चढ़ना ।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥16॥

क्या है कर्म अकर्म समझना
बड़ा कठिन यह शास्त्र कहे ।
बुद्धिमान भी मोहग्रस्त हो
निश्चय जाते धार बहे ।।
अतः तुम्हें मैं बतलाऊंगा
क्या है कर्म उसे लो जान ।
मुक्त सभी अशुभों से होने
इसे जानकर करना ध्यान ।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥17॥

गहन कर्मगति इसे समझना
कठिन बहुत है जानो भेद ।
कर्म, अकर्म, विकर्म सभी को
सभी समझ जायें, है खेद ।।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥18॥

जो अकर्म में कर्म देखता
और कर्म में लखे अकर्म ।
वह नर सचमुच बुद्धिमान है
सभी नरों में, जाने मर्म ।।

सब प्रकार के कर्मों में
रहकर प्रवृत्त भी वह पावन ।
दिव्य अवस्था स्थितियों में
वह नर रहता शुचि भावन ।।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ।।19।।

इन्द्रियतृप्त कामनाआंको
कर प्रयास जो दूर करे ।
निरत रहे उसमें वह ज्ञानी
कहलाता, यह शास्त्र कहे ।।
पूर्ण ज्ञान की अग्निशिखासे
कर्मफलों को भस्म करे ।
साधु पुरुष, सचमुच कर्त्ता वह
वेदों ने यह बात कहे ।।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।।20।।

कर्मफलों की आसक्ति को
त्याग सदा जो रहता तृप्त ।
भले व्यस्त वह रहे कर्म में
है निष्काम स्वतंत्र अलिप्त ।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वान्नाप्नोति किल्विषम् ।।21।।

सदा संयमित मन बुद्धि से
ऐसा नर करता निजकर्म ।
तन स्वामित्व निर्वहण केवल
उसका होता है निज धर्म ।।

होता नहीं प्रभावित वह नर
पाप फलों का है त्यागी ।
ज्ञानवान वह पुरुष बड़ा है
जो प्रभु का है अनुरागी ।।

यदृच्छालाभ संतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥22॥

जो मिला उसमें मगन है
मुक्त द्वन्द्वाभाव से ।
हार हो या जीत हो
ईर्ष्या न पीड़ित घाव से ।
बांधते उसको न बंधन
कर्म के संसार में ।
मुक्त है वह नर निरंतर
कर्ममय व्यापार में ।।

गतसंङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥23॥

प्रकृति गुणों से अनासक्त जो
दिव्य ज्ञान में जो स्थित ।
उसके सारे कर्म ब्रह्म में
लीन हुआ करते प्रस्थित ।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥24॥

ब्रह्मभाव में पूर्णलीन जो
वह जाता है प्रभु के धाम ।
हवि औ' हवन ब्रह्म की होती
अखिल विश्व ब्रह्ममय तमाम ।।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥25॥

कुछ योगी पूजते देवता
विविध यज्ञ करते निज जान ।
परमब्रह्म को मान अग्नि
आहुति देते कुछ चतुर सुजान ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥26॥

श्रवण क्रिया और इन्द्रिय संयम
मन को केन्द्रित कर धर ध्यान ।
यही नियंत्रण अग्नि रूप में
करते हवन लोग कुछ जान ॥
तो कुछ लोग इन्द्रिय विषयों के
इन्द्रिय अग्नि में होम करे ।
सद्गृहस्थ का यह जीवन से
यह धरती औ' व्योम भरे ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥27॥

कर वश में मन और इन्द्रियाँ
आत्मा को लखते कुछ लोग ।
प्राणवायु को मन अग्नि में
आहुति देते नित संयोग ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्याययज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥28॥

कुछ कठोरव्रत अंगीकार कर
कर निज धन सम्पत्ति का त्याग ।
कठिन तपस्या योगमार्ग से
या फिर करके जप-तप याग ।।
दिव्य ज्ञान में उन्नति करने के हित
कुछ पढ़ते हैं वेद ।
बनते प्रबुद्ध जन्म निज पाकर
करते हैं नित नव निर्वेद ।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रूद्धवा प्राणायामपरायणाः
अपरे नियता हाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।।29।।

श्वांस रोक रहते समाधि में
प्राणों को अपने में रोक ।।
औ' अपान को प्राणवायु में
रोक करे अभ्यास विशोक ।।
और अन्त में प्राण-अपान को
रोक समाधि में जाते ।।
औ' कुछ लोग स्वल्प भोजन ले
प्राण-प्राण तक पहुँचाते ।।
(जीवन को विस्तार इन्हीं
प्राणायामों से मिलता है ।
जब कुम्भक का कुंभ भरे
वह प्राणकमल तब खिलता है ।।
जो प्रवृत्त निश्छल भक्ति में
होता प्रवृत प्रभु के जान ।
प्रकृति गुणों के पार उतरता
वह नर बनता महामहान ।।)

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।।30।।

सभी यज्ञ करने वाले
यज्ञों का अर्थ समझ जाते ।
पाप कर्म से मुक्त हुए वे
यज्ञामृत फल को खाते ।।
(परम दिव्य आकाश अलौकिक
परम धाम पाते वे नर
पाप कर्म से मुक्त हो गए
मिले ब्रह्म में जा सत्वर ।।)

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरूसत्तम ॥31॥

बिना यज्ञ के सुखी न रह सकता
नर जग या जीवन में ।
पा सकता वह लोक कहो
कैसे अगले जीवन मन में ।।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥32॥

ये सब यज्ञ वेद सम्मत हैं
ये सब कर्मों के हैं अंग ।
इन्हें जानकर मुक्त हुए तुम
ये रहते जीवन के संग ।।

श्रेयान्द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥33॥

द्रव्य यज्ञ से श्रेष्ठ यज्ञ है
ज्ञानयज्ञ सुन लो हे पार्थ ।
सारे कर्मयज्ञ मिट जाते
दिव्य ज्ञान में ही निहितार्थ ।।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥34॥

सद्गुरु के तुम शरण गहो
सद्ज्ञान सत्य को तुम जानो ।
बन विनीत जिज्ञासा करना
कर सेवा निज सुख मानो ।।
जो व्यक्ति स्वरूपसिद्ध है
ज्ञान वही दे सकता है ।
दर्शन जो कर चुका सत्य का
दिखा सत्य वह सकता है ।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥35॥

उस स्वरूप सिद्ध व्यक्ति से
ज्ञान ज्योति जब पाओगे ।
मोह पुनः व्यापित न करेंगे
पार सिन्धु कर जाओगे ।।
तब तुम जान सकोगे मुझको
सभी जीव अंशी मेरे ।
सिमट सभी आते हैं मेरे
जब मैंने वंशी टेरे ।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृतमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥36॥

गर समस्त पापियों बीच तुम
सर्वाधिक पापी भी हो ।
दिव्य ज्ञान की नाव चढ़ो तुम
दुःख सागर को पार करो ।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥37॥

जलती अग्नि भस्म कर देती
जैसे सारे इंधन को ।
वैसे भौतिक कर्मों के फल
भस्म ज्ञान करते धन को ।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।38।।

दिव्य ज्ञान के सम उदात्त औ'
शुद्ध नहीं कुछ है जग में ।
यह परिपक्व योग का फ़ल है
जो मिलता पावन मग में ।।
भक्ति सिद्ध जो नर हो जाता
पा जाता मुस्कान मधुर ।
चखता स्वाद ज्ञान का भीतर
हर्षित रहता ज्ञान चतुर ।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।39।।

दिव्य ज्ञान में जो अर्पित है
वशवर्त्ती इन्द्रियां जिसे ।
ज्ञानप्राप्ति का वह अधिकारी
शान्ति प्राप्त कर धन्य उसे ।।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।40।।

अज्ञानी जो श्रद्धाहीन हैं
करते शास्त्रों पर संदेह ।
ईश्वर भक्ति नहीं पा सकते
गिरते नीचे निःसन्देह ।।

संशय में जो रहते हरदम
उनके लिए नहीं यह लोक ।
सुख की बात दूर है उनके
और दुःखद रहता परलोक ।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।।41।।

कर्मफलों का त्याग करे जो
औ' भक्ति करता हो लीन ।
दिव्य ज्ञान से उनके संशय
हो जाते तत्काल विलीन ।।
आत्मपरायण सचमुच में वह
नर है सुनो धनंजय आज ।
बंधता कभी न कर्मबन्ध में
वह करता जगती पर राज ।।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।42।।

जो संशय तेरे भीतर
जागे हैं वे निमित्त अज्ञान ।
ज्ञान शास्त्र से इन्हें काटकर
बन जाओ तुम महामहान ।।
योग समन्वित होकर जागो
आओ आगे खड़े रहो ।
बिना झिझक निर्द्वन्द्व भाव से
महासमर में युद्ध करो ।।

※ ※ ※

पांचवां अध्याय

' कृष्ण भावनाभावित कर्म '

अर्जुन उवाच – ***सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।***

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥1॥

पहले कहते कर्म त्याग दो
फिर कहते हैं करने कर्म ।
बता मित्र, यह क्या उलझन है
नहीं समझ में आता मर्म ।।
हो अतिशय आकुल अर्जुन ने
कहा– मुझे बतलाओ तात ।
दोनों में है कौन लाभप्रद
सचमुच समझाएं ये बात ।।

श्रीभगवानुवाच – ***संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।***

तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥2॥

कर्मों का परित्याग और
भक्तिमय कर्म करो निर्भय ।
कर्मत्याग से भक्ति युक्त है
कर्म श्रेष्ठ जानो निश्चय ।।

ज्ञेयःस नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥3॥

कर्मफलों से घृणा न करता

और न जो फल का कामी ।
वही नित्यसन्यासी होता
औ' सत्पुरुष वही नामी ।।
वह समस्त द्वन्द्वों का सागर
भवबन्धन को पार करे ।
महाबाहु अर्जुन, वह नर है
पूर्ण मुक्त संसार तरे ।।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।4।।

भक्ति भिन्न है भौतिक जगसे
अज्ञानी यह बात कहे ।
ज्ञानी एक राह पर चलकर
फल दोनों का साथ लहे ।।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।5।।

सांख्य योग औ भक्तियोग को
जो लखता है एक समान ।
यावत् रूप वस्तु को सचमुच
वही देखता चतुर सुजान ।।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ।।6।।

सब कर्मों का त्याग कर कोई
सुखी नहीं बन सकता है ।
भक्ति भक्त को परमेश्वर से
एकमेव रख सकता है ।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥7॥

भक्तिभाव से कर्म करे जो
औ' जिसके वश में हो मन ।
वह विशुद्ध आत्मा सबका प्रिय
औ' सब हैं उसके प्रिय जन ।।
ऐसा व्यक्ति कर्म करके भी
बन्धन मुक्त सदा रहता ।
कृष्णभावनामृत मधु पीता
भक्ति सिन्धु में नित बहता ।।

नैव किञ्चितकरोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यञ्शृन्वणस्पृशञ्जिघ्नन्नश्नगाच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥8॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥9॥

दिव्य भाव में युक्त पुरुष
सब कुछ करके कुछ नहीं करे ।
चलते-फिरते सोते-जगते
खाते-पीते निर्द्वन्द्व रहे ।।
इन्द्रियां कार्य अपना करती
भौतिक विषयों के घेरे में ।
सब जान रहा होता वह नर
घिरता फिर नहीं अंधेरे में ।।

ब्रह्मण्याधाय कर्मांणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥10॥

कर्मफलों को परमेश्वर को
अर्पण कर जो कर्म करे ।
वह आसक्तिरहित नर जग में
कमलपत्र जलबीच रहे ।।
नहीं प्रभावित कर पाते
उस नर को जग के कार्य-कलाप ।
क्योंकि हर क्षण उस जीवन का
जुड़ा हुआ है प्रभु से आप ।।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।11।।

योगिजन आसक्ति रहित हो
करते जो तन-मन से काम ।
बुद्धि इन्द्रियां कर्म निरत हो
शुचिता के हित मात्र तमाम ।।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।12।।

निश्चल भक्ति शान्ति पाता है
मेरे हित करता सब कर्म ।
श्रम का फलकामी बंध जाता
नहीं जानता उसका मर्म ।।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यास्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।13।।

जब सत्ताधारी जीवात्मा
अपनी प्रकृति को स्ववश करे ।
और त्याग सब कर्मों का कर
तन-मन्दिर में मुक्त रहे ।।

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥14॥

नहीं कर्म का सृजन करे वह
देह-नगर का यह स्वामी ।
नहीं प्रेरता कभी कर्म को
और न रचता फलकामी ।।
सब प्रकृति के गुण से होते
संचालित सब उससे कार्य ।
यह रहस्य है इसे भेदना
जीवन के हित है अनिवार्य ।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥15॥

किसका पाप-पुण्य ग्रहता है
नहीं किसी का, परमेश्वर ।
मोहग्रस्त अज्ञान जीव है
आच्छादित अज्ञात विवर ।।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥16॥

ज्ञान प्रकाशित जब होता है
अंधकार छंट जाता है ।
जैसे सूर्य निकट आने पर
लोक वस्तु लख पाता है ।।

तद्‌बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥17॥

जब नर का मन, बुद्धि, श्रद्धा
औ' शरण प्रभु के चरण गहे ।
पूर्ण ज्ञान मिलता औ' घुलते कल्मष्
सब कुछ पा पथ मुक्ति लहे ।।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।18।।

ज्ञानवान जो साधुपुरुष है
होता समदर्शी समभाव ।
एक दृष्टि से सबको लखता
ब्राह्मण, गाय, श्वान सद्भाव ।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।19।।

जिनका मन एकत्व और
समता में स्थित हुआ जहां ।
जन्म-मृत्यु के पार हुए
फिर उनके हैं बन्ध कहां?
वे निर्दोष ब्रह्म सम होते
सदा ब्रह्म में ही स्थित ।
द्वन्द्वों से उठ जाते उपर
भाव न करते उन्हें व्यथित ।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।20।।

प्रिय को पा हर्षित नहीं होता
अप्रिय पा भरते ना नैन ।
स्थिर बुद्धि मोहगत है वह
है ब्रह्मज्ञ, ब्रह्म से बैन ।।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥21॥

भौतिक इन्द्रिय सुख न खींचते
अपनी ओर इसे जानो ।
मुक्त मनुज स्थित समाधि में
हर्षित नित रहता मानो ।।
हो एकाग्रचित ईश्वर में
निरत नित्य लखता रहता ।
वह स्वरूप ईश्वर समान हो
सिद्ध सरिस सुख में बहता ।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥22॥

बुद्धिमान दुःख के कारण में
लेते कभी नहीं हैं भाग ।
भौतिक इन्द्रिय से उपजे वे
दुःख होते, करते वे त्याग ।।
आदि-अंत ऐसे भोगों का
होता कुन्तीपुत्र, तुम जान ।
आनंदित होते न चतुर नर
इसमें कभी न देते ध्यान ।।

शक्नोत्तीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥23॥

इन्द्रिय के आवेग, क्रोध का वेग
सहज जो सह सकता ।
वह समर्थ होता इच्छा तज
सुखी जहां में रह सकता ।।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥24॥

सुख अनुभव जिसके अंतर में
जो अन्तर में रमण करे ।
वह कर्मठ अन्तर्मुख योगी
पूर्ण लक्ष्य पर मनन करे ।।
परमब्रह्म में मुक्ति पाता
वह नर सचमुच महामहान ।
और अन्त में प्राप्त ब्रह्म को
कर हो जाता ब्रह्म समान ।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥25॥

संशय से उत्पन्न द्वैत से परे
आत्म में है मन लीन ।
सब जीवों के हित-चिंतन में
जो सदैव रत रहे प्रवीण ।।
रहित सभी पापों से है जो
जो सबका कल्याण करे ।
पाता मुक्ति वही नर जानो
वही ब्रह्म निर्वाण वरे ।।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥26॥

जो समस्त भौतिक इच्छाओं से
है रहित, न क्रोध करे ।
आत्मसंयमी औ' संसिद्धि हित
निरत रहे मन मोद भरे ।।

वह स्वरूप सिद्ध नर निश्चय
मुक्तिद्वार में करे प्रवेश ।
निश्चित यह मानो उस नर को
बदल गया होता है देश ।।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥27॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एवः सः ॥28॥

जो समस्त इन्द्रिय विषयों को
भीतर से दे सहज निकाल ।
केन्द्रित कर भ्रूमध्य दृष्टि को
प्राण-अपान रोक तत्काल ।।
मन, इन्द्रिय, बुद्धि को वश कर
मोक्ष लक्ष्य को जो साधे ।
इच्छा, भय औ' क्रोध रहित हो
जाता वह योगी आगे ।।
इसी अवस्था में जो रहता
नित्य निरंतर वह योगी ।
होता मुक्त अवश्य जान लो
वह अनंत सुख का भोगी ।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥29॥

सभी तपस्याओं यज्ञों का
भोक्ता स्वयं परम मैं जान ।
सभी देवताओं, लोकों का
परमेश्वर हूँ मैं ही मान ।।

हितकारी औ' परम हितैषी
मैं हूं, यह जिनको आभास ।
मेरा ही नित चिंतन करता
पूर्ण पुरुष वह पुंज प्रकाश ।।
सारे भौतिक दुःख-दाहों से
जाता पार निकल वह वीर ।
शान्ति लाभ करता वह सत्वर
भक्ति सुधा का पीता नीर ।।

※ ※ ※

छट्ठां अध्याय

' ध्यानयोग '

श्रीभगवानुवाच – ***अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।***
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥1॥

अनासक्त जो कर्मफलों के प्रति
औ' अपना कर्म करे ।
वह संन्यासी असली योगी
सदा निरत वह धर्म वरे ।।
जो करता ना कर्म कुछ औ' ना
अग्नि कभी जलाता है ।
कृष्ण भावनामृत का पावन
वही मधुर रस पाता है ।।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥2॥

कहते हैं संन्यास जिसे
हे पाण्डुपुत्र! तुम योग कहो ।
परमब्रह्म से नाता जोड़ो
और उसी में युक्त रहो ।।
इन्द्रियतृप्ति की इच्छाओं को
त्यागे बिना न मिलता त्राण ।
व्यक्ति न योगी हो सकता है
कभी, सुनो यह देकर ध्यान ।।

आरूरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥3॥

नवसाधक के लिए कर्म
अष्टाङ्गयोग साधन होता ।
योग सिद्ध भौतिक कार्यों का
त्याग करे सुख से सोता ।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥4॥

त्याग सभी भौतिक इच्छाएं
इन्द्रियतृप्ति हित करे न काम ।
औ' सकाम कर्मों के प्रति भी
प्रवृत्त न होता है निष्काम ।।
योगारूढ़ वही कहलाता
दिव्य प्रेम में पगा रहे ।
सबके साथ दीखता हो पर
नहीं किसी से लगा रहे ।।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥5॥

नर अपना उद्धार करे निज
मन का ले सहयोग बढ़े ।
नीचे गिरे नहीं भटके बिन
उच्चशिखर पर सहज चढ़े ।।
यह मन बद्ध जीव है अपना
अरि औ' मित्र स्वयं जानो ।
अतः सोच यह आगे बढ़ता
सत्य-सत्य इसको मानो ।।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥6॥

जिसने जीत लिया है मन को
मन उसका बस मीत बना ।
जिसने ऐसा नहीं किया
मन रहता उससे तना-तना ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥7॥

जिसने जीत लिया है मन को
पहले ही प्रभु को पाया ।
शान्ति मिल गयी उसको जानो
बिना थके वह घर आया ॥
ऐसे नर के लिए एक से
सुख-दुःख शीत-ताप सम जान ।
करते नहीं प्रभावित उसको
कभी मान हो या अपमान ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः ॥8॥

वही व्यक्ति है आत्मदर्शी औ'
योगी भी कहलाता है ।
रहता है सन्तुष्ट ज्ञान से
जो अर्जुन कर पाता है ॥
पाता है अध्यात्म, इन्द्रियों पर भी
विजय वही पाता ।
सभी वस्तुओं को सम लखता
पत्थर-सोना जो आता ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥9॥

जब मनुष्य निष्कपट भाव से
सृहत-मित्र अरि को लखता ।
सबको एक समान देखता
तनिक न कटु अन्तर रखता ।।
तब अधिक उन्नत होता वह
बढ़ता नर नारायण ओर ।
इधर रहे या उधर जाय बढ़
सम सुख उसके दोनों छोर ।।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचितात्मा निराशीर परिग्रहः ॥10॥

योगी निज अपने शरीर मन
औ' आत्मा को मोड़ चले ।
परमेश्वर की ओर, और
बाकी जालों को छोड़ चले ।।
सदा रहे एकान्त और
मन को वश में कर बात करे ।
संग्रह भाव और आकांक्षाओं पर
नित संघात करे ।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोतरम् ॥11॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत्तचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥12॥

हो निश्चित एकांत जगह
फिर उस पर कुशा बिछा करके ।
मृगछाला से ढंके उसे औ'
कोमल वस्त्र लगाकर के ।।
उस आसन पर बैठ, साधकर
योगी योगाभ्यास करे ।
आसन सम औ' थल पवित्र हो
मन को मोड़ विकास करे ।।
एक बिन्दु पर टिका ध्यान मन
इन्द्रिय, कर्म सभी हों एक ।
पावन होता हृदय योग से
जग पाता है शुद्ध विवेक ।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवालोकयन् ॥13॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः ॥14॥

निज शरीर, गर्दन, सिर को
सीधाकर योगाभ्यास करे ।
दृष्टि लगा नासिकाग्रभाग पर
निश्चल गति का रास करे ।।
अविचल हो भयरहित दमित मन से
वह मेरा ध्यान करे ।
हो उन्मुक्त विषयी जीवन से
चरम लक्ष्य संधान करे ।।
चरम लक्ष्य मैं हूं मुझमें ही
जब हो जावे स्थिर मन ।
आत्म और परमात्म मिलन का
यह संयोग परम पावन ।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥15॥

नित शरीर, मन, कर्मों में
संयम का हो आभास अगर ।
तो भौतिक अस्तित्व मिटाकर
योगी पाता धाम अमर ।।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जागतो नैव चार्जुन ॥16॥

अतिभोजी या अल्पाहारी
जो अति सोये अति जागे ।
योगी कभी न बन सकता वह
हे अर्जुन! वह भ्रम त्यागे ।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥17॥

जो आमोद प्रमोद और
खाने सोने में नियत रहे ।
नियमबद्ध सब काम करे जो
समय लहर के साथ बहे ।।
मिट सकते भौतिक क्लेश सब
योग योग से निश्चित जान ।
भव रोगों से चतुर महत् जन
पा जाते हैं निश्चित त्राण ।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥18॥

जब योगी योगाभ्यास से
वश करके मन कार्य-कलाप ।
स्थित हो जाता अध्यात्म भाव में
तज भौतिक इच्छा का ताप ।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥19॥

वायु रहित थल में ज्यों दीपक
कभी न हिलता डुलता है ।
आत्म-तत्व का चिंतन होता
ध्यान केन्द्र पर तुलता है ।।

यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥20॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥21॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥22॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥23॥

सिद्धि अवस्था में मानव मन
पूर्ण संयमित हो जाता ।
योगाभ्यास से मनः क्रियाओं की
भौतिकता खो जाता।
सिद्धि की यह बात बड़ी है
मानव मन हो जाता शुद्ध ।

आत्मरूप का दर्शन करता
अपने में आनन्द प्रबुद्ध ।।
उस आनन्दमयी स्थिति में
दिव्य इन्द्रियों का संसार ।
दिव्य सुखों में स्थित होता
सिद्ध पुरुष सीमा के पार ।।
कभी न होता विपथ सत्य से
स्थापित जो नर जानो ।
इससे बड़ा न लाभ दूसरा है न
मानता वह मानो ।।
विचलित कभी नहीं होता वह
घिरे भले नभ में घनघोर
कठिन परिस्थितियों में भी वह
रहता अडिग न छोड़े डोर ।।
भौतिक संसर्गों से उपजे
सभी दुःखो का होता अंत ।
यह वास्तविक मुक्ति है जानो
सच्चे सुख का सरस वसंत ।।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥24॥

ले संकल्प और श्रद्धा को
मानव योगाभ्यास करे ।
पथ से कभी न हो विचलित तो
भवसागर से सहज तरे ।।
मनोधर्म से उपजी इच्छाओं का
करे सहज वह त्याग ।
मन के द्वारा सभी ओर से
खींच इन्द्रियों का अनुराग ।।

शनैःशनैरूपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥25॥

पूर्ण आत्मविश्वास जगाकर
पकड़े सहज बुद्धि की बांह ।
स्थित हो समाधि में बैठे
धीरे-धीरे वह नर नाह ।।
इस प्रकार मन को आत्मा में
स्थित कर जो करे विहार ।
अन्य सभी चिंतन को तज कर
मुक्त रहे निःशोच-विचार ।।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥26॥

मन चंचल, अंचल को पकड़े
दौड़ लगाये जहां-तहां ।
खींच वहां से लाये उसके
वश में कर ले उसे वहां ।।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥27॥

जिस योगी का मन मुझमें
स्थिर है यह निश्चित जानो ।
दिव्य सुखों सर्वोच्च सिद्धि को
प्राप्त हुआ उसको मानो ।।
हो जाता वह परे रजो गुण से
मिल जाता प्रभु के साथ ।
एकमेक हो उनसे अपने
विगत कर्मफल से धो हाथ ।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥28॥

योगाभ्यास में लगा निरन्तर
आत्मसंयमी जो योगी ।
मुक्त सभी भौतिक कल्मष से
हो जाता, न रहे रोगी ।।
दिव्य प्रेम भक्ति में बहता
वह नर पावन बन जाता ।
जुड़ जाता है नेह परम से
सदा परमसुख है पाता ।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र रामदर्शनः ॥29॥

सच्चा योगी जीव जगत में
मुझको चारो ओर लखे ।
सब जीवों में मैं मुझमें सब
आत्मसात् हैं यही दिखे ।।
निःसन्देह स्वरूपसिद्ध जो
नर है उसकी है पहचान ।
ईश्वर को सर्वत्र देखता
सभी जीव में एक समान ।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥30॥

जो मुझको सर्वत्र देखता
सब कुछ मुझमें देख रहा ।
उसके लिए न मैं अदृश्य हूं
वह भी मुझको देख रहा ।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥31॥

मुझे और उस परम आत्म को
जान अभिन्न करे ना भेद ।
भक्तिभाव से सेवा करता
परमात्मा का, कहते वेद ।।
हर प्रकार से वह मुझमें
स्थित रहता है लो यह जान ।
उसका यह तादात्म्य भाव ही
भरता रहता है कल्याण ।।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥32॥

हे अर्जुन! वह परम योगी है
सबमें जो समभाव रखे ।
सबके सुख-दुःख उसके अपने से
लगते हों और चखे ।।

अर्जुन उवाच – ***योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।***
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥33॥

जिसका वर्णन किया आपने
योग पद्धति का संक्षेप ।
हे मुधसूदन! मेरे हित वह
असहनीय हैं गान विक्षेप ।।
क्योंकि मन चञ्चल अस्थिर है
टिकता नहीं एक ढिग नाथ ।
व्यवहारिक कैसे में समझूं
सदा बदलता रहता पाथ ।।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥34॥

मन अतिचंचल उच्छृंखल
हठ करता है यह बली बड़ा ।
वह वायु-सा वश में कैसे
आएगा हर समय अड़ा ।।

श्रीभगवानुवाच – ***असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।***
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥35॥

कहा कृष्ण ने तब अर्जुन से
सुन हे महाबाहु! मम बात ।
मन चंचल निश्चित है मानो
कठिन बहुत वश करना तात ।।
किन्तु निरंतर अभ्यासों से
और विरक्ति से दोगे मोड़ ।
कर पाना ऐसा संभव है
हार नहीं, पथ दो मत छोड़ ।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥36॥

मन जिसका उच्छृंखल है
है कठिन आत्मदर्शन उसका ।
किन्तु संयमित जिसका मन है
अभ्यासी हित चिंतन का ।।
करना नित अभ्यास योग का
भोग त्याग में जो तत्पर ।
मन को उचित दिशा मिल जाता
कृष्णभावना से सत्वर ।।

अर्जुन उवाच – ***अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।***
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥37॥

मुझे बता हे कृष्ण गति क्या
उस असफल योगी का है ।
आत्मदर्श विधि ग्रहण करे
फिर भटक जाय, रोगी का है ।।
योग सिद्धि को प्राप्त नहीं कर पाता
वह क्यों मित्र कहो ?
भौतिकता में बार-बार वह
क्यों पड़ जाता बता अहो ।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥38॥

भ्रष्ट ब्रह्मप्राप्ति के मग से
जो ऐसा है व्यक्ति भला ।
भौतिक औ' अध्यात्म युगल से
वह नर जाता सदा छला ।।
क्या वह छिन्न-भिन्न बादल–सा
होता नहीं विनष्ट सखे
फल, दोनों ही लोक छिन गए
बता हमें फल कौन चखे ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥39॥

मेरा है संदेह यही
है यही प्रार्थना तुमसे नाथ ।
पूर्णतया कर दूर इसे
दूसरा नहीं कर सके सनाथ ।।

श्रीभगवानुवाच – *पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।*
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥40॥

जो कल्याण कार्य में रत है
उस योगी का नहीं विनाश ।
लोक और परलोक कहीं भी
उसकी मर्यादा है खास ।।
पृथापुत्र! हे मित्र! भलाई
जो करता होता बलवान ।
होता नहीं पराजित तम से
उसकी शक्ति बड़ी महान ।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥41॥

जहाँ पवित्रात्माएं होतीं
असफल योगी वहां रहे ।
अनेकानेक वर्ष तक भोगे
भोग योग से जुड़ा रहे ।।
सदाचारी पुरुषों के घर में
या धनवानों के कुल में ।
लेता है वह जन्म, बिताता
समय सदा सुख निर्मल में ।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥42॥

दीर्घकाल तक अगर योगसाधना किया
ना सफल हुआ ।
लेता जन्म योगियों के घर
इतर जन्म से सहल हुआ ।।

वह अति बुद्धिमान कुल पाता
दुर्लभ जन्म इसे जानो ।
इस संसार-सिन्धु में ऐसा
नर दुर्लभ इसको मानो ।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरूनन्दन ।।43।।

पाकर ऐसा जन्म पूर्वजन्मों की
याद उसे रहती ।
पुनः चेतना दैवी पाता
निर्मलता रहती बहती ।।
पूर्ण सफलता के उद्देश्य से
करता वह प्रयास वन्दन ।
होती भगवत्कृपा और पा जाता
पथ वह कुरूनन्दन ।।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।44।।

पूर्व जन्म की दिव्य चेतना से
वह स्वयं योगपथ पाये ।
नहीं चाहते, फिर भी आकर्षित
हो जाता नियम सहाये ।।
ऐसा जिज्ञासु योगी
सब विधिविधान शास्त्रों से पार ।
स्थित होता दिव्य लोक में
जहां न छू सकता संसार ।।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥45॥

जब समस्त कल्मष् मिट जाते
सतनिष्ठा से होकर शुद्ध ।
प्रगति मार्ग पर वह बढ़ता है
हो जाता है बहुत प्रबुद्ध ।।
अन्त-अन्त तक जन्म अनेकों
का अभ्यास निखर आता ।
सिद्धिलाभ कर परम धाम को
योगी निश्चय ही पाता ।।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥46॥

योगी पुरुष बड़ा होता है
ज्ञानी और तपस्वी से ।
औ' सकाम कर्मी भी पीछे
रहता सहज मनस्वी से ।।
आत्मज्ञान के बिना तपस्या
है अपूर्ण अर्जुन जानो ।
ज्ञानयोग भी बिना समर्पण के
सदा अपूर्ण इसको मानो ।।
अतः योग पथ को अपनाओ
और बनो योगी अर्जुन ।
निर्धारित गन्तव्य तुम्हारा
पाओगे निश्चित यह सुन ।।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥47॥

जो मेरे चिन्तन में रत है
जिसका अन्तःकरण विमल ।
सभी योगियों में उत्तम वह
जिसमें भक्तिभाव अविचल ।।
अन्तरंग हो जुड़ा हुआ है
मुझमें परमरूप में युक्त ।
वह सर्वोच्च यही मत मेरा
निश्चित हो जाता वह मुक्त ।।

※ ※ ※

सातवां अध्याय

' भगवद्ज्ञान '

श्रीभगवानुवाच – ***मयासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।***
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥1॥

कहा कृष्ण ने– सूनो पार्थ!
अब मैं जो कहता हूं धर ध्यान ।
भावपूर्ण किस तरह रहोगे
मुझ तक पहुंचोगे तुम आन ।।
मन को मुझमें लगा
करो अभ्यास योग का तुम पालन ।
पूर्णतया संदेह रहित हो
मुझको जानेगा तव मन ।।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥2॥

दिव्यज्ञान की बात कहूंगा
जो है व्यावहारिक औ' पूर्ण ।
इसे जानकर और जानना
नहीं शेष रहता, सम्पूर्ण ।।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥3॥

कई हजार मनुष्यों में
कोई है एक सिद्धि पाता ।
और प्राप्त सिद्धि में भी
विरला है जो मुझतक आता ।।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।4।।

पृथ्वी, जल औ' अग्नि, वायु
आकाश और मन, बुद्धि, हंकार ।
आठ विभक्त प्रकृतियां मेरी
अपरा (भिन्ना) सुनो उदार ।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।5।।

महाबाहु अर्जुन! इसके अतिरिक्त
अन्य एक शक्ति मेरी ।
उसका नाम परा है जानो
उन जीवों से युक्त धरी ।।
भौतिक अपरा प्रकृति साधनों का
जो करते हैं दोहन ।
मेरी ही वह परा शक्ति है
जो जग का करता मोहन ।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।6।।

सभी प्राणियों का उद्गम
बश इन्हीं शक्तियों में होता ।
औ' मैं ही आधार सभी का
सृजन-प्रलय पाता-खोता ।।

भौतिक और आध्यात्मिक जो
देख रहे तुम इस जग में ।
केन्द्र बिन्दु में उनके हूं
केवल मैं संसृति-मग में ।।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥7॥

मुझसे श्रेष्ठ सत्य ना कोई धनञ्जय!
सब कुछ का मैं ही आधार ।
जैसे मणिमुक्ता धागे में
रहते गुंथे अनेक प्रकार ।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरूषं नृषु ॥8॥

मैं हूं जल का स्वाद,
सूर्य का और चन्द्र का ज्योति प्रखर ।
वेदों में ओंऽकार मंत्र मैं
नभ में ध्वनि, नर में शक्ति अमर ।।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यांच तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥9॥

मैं पृथ्वी का आद्यगन्ध हूं
और अग्नि का हूं उष्मा ।
मैं समस्त जीवों का जीवन
तपस्वियों का तप, सुषमा ।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥10॥

आदिबीज हूं मैं समस्त जीवों का
जानो पार्थ रहस्य ।
बुद्धिमान की बुद्धि, शक्ति पुरूषों का
तेज, अतीत, भविष्य ।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरूद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।11।।

बलवानों का काम और
इच्छा से रहित तेज बल हूं ।
मैं वह काम धर्म सम्मत हूं
भरतश्रेष्ठ! सबका तल हूं ।।

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।12।।

सत्-रज-तम तीनों गुण मेरी
स्वयं शक्ति से प्रकट हुए ।
मैं सब कुछ पर स्वतंत्र हूं
हूं अलिप्त कुछ नहीं छुए ।।
प्रकृति गुणों के मैं अधीन हूं नहीं
यह बात मेरी जानो ।
पर वे सब मेरे अधीन हैं
मुझसे उद्भूत हैं मानो ।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।13।।

तीन गुणों से मोहग्रस्त जग
क्या समझे मुझको माने?
गुणातीत औ' अविनाशी को
सूक्ष्म सत्य को क्या जाने?

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥14॥

तीन गुणों की इस प्रकृति को
मेरी दैवी शक्ति का पार ।
बड़ा कठिन है इसे जानले
जीव जगत का यह व्यवहार ।।
हो जाते जो शरणागत हैं
जिनका अन्तर सहज सरल ।
वे कर जाते पार सिन्धु के
हो जाते हैं दिव्य विमल ।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥15॥

निपट मूर्ख जो अधम जीव है
जिसका हरा गया हो ज्ञान ।
असुर प्रकृति का और दुष्ट जो
कैसे शरण गहे अज्ञान ।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥16॥

भरतश्रेष्ठ! वे पुण्यात्मा हैं
जो मेरी सेवा में लीन ।
आर्त्त और जिज्ञासु प्यारे
अर्थार्थी और ज्ञान प्रवीन ।।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥17॥

इनमें से जो परमज्ञान औ'
शुद्ध भक्ति का अधिकारी ।
उसका मैं अत्यन्त प्रिय हूं
मेरा अतिप्रिय वह भारी ।।

**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥18॥**

ये उदार चेता हैं निश्चित
जिनको मेरा ज्ञान मिला ।
वे मेरे समान हैं, मैं मानूं
उनका उर-कमल खिला ।
करते सेवा दिव्य निरन्तर मेरी
हो कर हरदम तत्पर ।
पाते वो सर्वोच्च लक्ष्य को
निश्चित ही मानो सत्वर ।।

**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥19॥**

सचमुच ज्ञान जिसे होता है
भटक-भटक जन्मों के बाद ।
सब कारण का कारण मैं हूं
बात उसे रहती यह याद ।।
मेरे निकट शरण में आता
वह महान आत्मा है मान ।
दुर्लभ वह अत्यन्त जगत में
विरला ही सकता पहचान ।।

**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥20॥**

भौतिक कल्मष् जब घुल जाते
हो जाती है बुद्धि विमल ।
वैसे नर स्वभाव से अपने
देव पूजते सत् के बल ।।

यो यो यां यां तनुंभक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।21।।

सभी जीवों के हृदय बीच में
स्थित हूं मैं ले निज रूप ।
पूजा किसी देव की कोई करता
श्रद्धा निज अनुरूप ।।
मैं उसकी श्रद्धा को स्थिर
करता हूं देवों में जान ।
भक्ति बढ़े उसमें उस जन की
जिससे जिसकी है पहचान ।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।।22।।

निज इच्छा की पूर्ति हेतु
जो जिन देवों का ध्यान धरे ।
फल देने वाला तो मैं हूं
केवल, इसका ज्ञान करे ।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।23।।

जो हैं अल्पबुद्धि वे नर
पूजन करते हैं देवों की ।
पाते क्षणिक और सीमित फल
यही मूल्य उन सेवों की ।।

देव पूजकर देवलोक में
जाते वे नर यह जानो ।
मेरे भक्त अन्ततः मेरे
परमधाम पाते मानो ।।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥24॥

वे नर मुझको नहीं जानते
क्योंकि वे होते अल्पज्ञ ।
सीमित ज्ञान मिला है उनको
उससे ही करते युग-यज्ञ ।।
समझे वे मैं निराकार था
अब स्वरूप धर आया हूं ।
अविनाशी सर्वोच्च प्रकृति को
जैसे कहीं छिपाया हूं ।।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥25॥

जो अल्पज्ञ मूर्ख हैं उनके
हित मैं प्रकट नहीं रहता ।
अन्तरंग शक्ति से आच्छादित
ज्यों पवन नहीं बहता ।।
मैं अविनाशी और अजन्मा हूं
है उनको ज्ञान कहां?
समझें जो इस गूढ़ रहस् को
ऐसा दिव्य कमान कहां?

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चाऽर्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मा तु वेद न कश्चन ॥26॥

हे अर्जुन! प्रभु के नाते
त्रयकाल हमारे वश में है ।
नहीं जानता मुझको कोई
जानू सबके कश में है ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥27॥

हे भारत! हे शत्रुजीत!
हर जीव मोह में पड़ा यहां ।
इच्छा और घृणा के घर में
द्वन्द्वभाव में खड़ा यहां ।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥28॥

पूर्वजन्म में पुण्य किये जो
पुण्य कर रहे इसमें आय ।
उच्छेदन हो गया पाप कर्मों का
उनको, मिला उपाय ।।
द्वन्द्वमुक्त हो गये मोह के
पहुंच गए वे अपने घर ।
संकल्पित सेवा में मेरी
जो रहते हरदम तत्पर ।।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥29॥

जरा मृत्यु से मुक्ति मिले
इस हेतु यत्न करते जो नर ।
करते मेरी भक्ति, शरण में
आते वे बुधजन सत्वर ।।

सचमुच में वे ब्रह्मरूप हैं
दिव्य कर्म को जान रहे ।
हित-अनहित लख रहे निरन्तर
निज को हैं पहचान रहे ।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।30।।

मुझ परमेश्वर को यह मेरी
पूर्ण चेतना में रहकर ।
समझे जो नर वह बुद्धजन है
सचमुच उसका बुद्धि प्रखर ।।
जगत देवताओं, यज्ञों का
मुझे नियामक जो माने ।
अपने मृत्युकाल में मुझको
याद रखे वह, जग जाने ।।

※ ※ ※

आठवां अध्याय

‘भगवत्प्राप्ति’

अर्जुन उवाच – *किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरूषोत्तम ।*
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥1॥

अर्जुन ने तब प्रश्न किया–
हे प्रभु! हे पुरूषोत्तम बोलो ।
क्या है ब्रह्म? आत्मा क्या है?
तनिक रहस इसका खोलो ।।
कर्म सकाम, जगत भौतिक क्या?
और देवता क्या? बतला ।
करके कृपा मुझे समझाओ
द्वन्द्व-बीच मैं गिरा अहा! ।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिनमधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥2॥

स्वामी कौन यज्ञ का है?
औ’ कैसे देह करे धारण?
मृत्युकाल में भक्ति परायण
तुम्हें जानते किस कारण?

श्रीभगवानुवाच – *अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।*
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥3॥

तब प्रभु ने यह कहा – सुनो,
यह जीव दिव्य अविनाशी है ।
उसका नित्यस्वभाव 'स्व' है
वह अध्यात्म निवासी है ।।
जीवों के भौतिक शरीर से
सम्बन्धित जो होते कार्य ।
वे सब कार्य कर्म कहलाते
जीवों के हित हैं अनिवार्य ।।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुणश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।4।।

यह परिवर्तनशील प्रकृति
भौतिक कहलाती है अधिभूत ।
सूर्य-चन्द्र सब देव सम्मिलित
कहलाते अधिदैव प्रभूत ।।
मैं परमेश्वर अधियज्ञ हूं
देहधारियों में हे श्रेष्ठ ।
सबके हृदय बीच स्थित
परमात्मरूप में हूं परमेष्ठ ।।

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।5।।

जो जीवन के अंतकाल में
केवल मेरा ध्यान धरे ।
मेरा ही स्वभाव पा जाता
निश्चित भव से पार करे ।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमैवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।6।।

जब तन त्याग रहा होता नर
जिन भावों का स्मरण करे ।
पाता निश्चित उसी भाव को
सुनो पार्थ, जो वरण करे ।।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।7।।

अतः सदा मम कृष्ण रूप का
तुम सदैव चिंतन करना ।
हे अर्जुन! फिर युद्ध करो तुम
निज कर्त्तव्य, भले करना ।।
सब कर्मों को मुझे समर्पित कर
जो कर्म करोगे तुम ।
मन-बुद्धि स्थिर कर मुझमें
मुझको प्राप्त करोगे तुम ।।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरूषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।8।।

जिसका मन है लगा हुआ
हरदम मेरे ही चिंतन में ।
अचलभाव से ध्यान करे जो
पा जाता मुझको मन में ।।

कवि पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्ण तमसः परस्तात् ।।9।।

परमपुरूष का ध्यान करे नर
जो सर्वज्ञ, पुरातन मान ।
परमनियंता लघु से लघुतर में भी
हूं मैं करे बखान ।।

मैं सबका पालनकर्त्ता
भौतिक बुद्धि से रहूं परे ।
नित्य पुरुष औ हूँ अचिन्त्य मैं
रूप यही उर बीच धरे ।।
सूर्य की तरह तेजवान औ'
दिव्य रूप जिनका पावन ।
परे प्रकृति की भौतिकता से
अणु ब्रह्माण्ड अनंत सघन ।।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य संम्यक् स तं परं पुरूषमुपैति दिव्यम् ।।10।।

मृत्युकाल में जो नर अपने
भौंह मध्य थिर प्राण करे ।
योग शक्ति में स्थिर मन से
पूर्ण भक्ति से प्रणव वरे ।।
वह निश्चित प्रभु को पाता है
शास्त्र-वेद सब यही कहे ।
चिंतन का यह चित्र रेखकर
नर अवश्य नरनाथ गहे ।।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।11।।

जो वेदज्ञ संत मुनि हैं
जो प्रणव मंत्र उच्चरण करे ।
सहज ब्रह्म में वे प्रवेश करते
अनंतपथ चरण धरे ।।
ब्रह्मचर्य ब्रत के अभ्यासी
होते हैं जो सिद्धि चहे ।
अब मैं तुम्हें बताऊंगा वह
कैसे यह नर-मुक्ति लहे ।।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरूध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥12॥

सब इन्द्रिय क्रियाओं से
होती विरक्ति वह जानो योग ।
बंद द्वार सबकर मन उर में
प्राणवायु सिर कर संयोग ।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥13॥

स्थित हो इस योगभ्यास में
प्रणव मंत्र करता चिंतन ।
पाता वह अध्यात्म लोक को
त्याग दिया गर उस क्षण तन ।।

अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥4॥

उसके लिए सुलभ हूँ मैं
चिन्तन अनन्य जिसका होता
भक्ति भाव में प्रवृत्त रहे वो
पा जाता सुख का सोता ।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥15॥

मुझे प्राप्तकर महापुरूष
जो भक्तिभाव में रमा करे ।
इस अनित्य जग में न लौटते
परमसिद्धि सुख जमा करे ।।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥16॥

इस जग में सर्वोच्च लोक से
लेकर जितने लोक अधम ।
सब दुःखो के घर हैं जानो
सबमें पीड़ा, तपन विषम ।।
जनम-मरण का चक्कर इसमें
सदा चला करता जानो ।
मेरा धाम प्राप्त जो करता
देह न धरता यह मानो ।।

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रि युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदोजनाः ॥17॥

एक हजार युग बीत जाते
ब्रह्मा का एक दिवस होता ।
इतने ही युग की रातें भी होती
जहां स्वयं ब्रह्म सोता ।।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥18॥

ब्रह्मा का दिन शुभारंभ होता
तब जीव व्यक्त होते ।
और रात्रि आने पर सारे
जीव अव्यक्त होते सोते ।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्त्वा भूत्त्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥19॥

जब जब ब्रह्मा का दिन आता
सारे जीव प्रकट होते ।
और रात्रि होते ही सब
असहाय डूबते हैं खोते ।।

परस्तस्मातु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यःस सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥20॥

एक अन्य अव्यक्त प्रकृति है
इन पदार्थों से बहुत परे ।
वह शाश्वत है और श्रेष्ठ है
नाश न होता कभी अरे ।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥21॥

अविनाशी अप्रकट जिसे
सब वेदान्ती बतलाते हैं ।
जो गन्तव्य परम है नर का
सभी शास्त्र समझाते हैं ।।
जिसे प्राप्त कर नहीं लौटता
परम धाम वह है मेरा ।
वृन्दावन वह कल्पतरू का
चारों तरफ लगा घेरा ।।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥22॥

प्रभु जो सबसे है महान
मिलते अनन्य भक्ति से ही ।
विद्यमान निज धाम रहें वे
सर्वव्याप्त शक्ति से भी ।।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥23॥

भरतश्रेष्ठ! अब तुम्हें बताऊंगा
विभिन्न होते जो काल ।
करते जब योगी प्रयाण
आते या नहीं सुनो ये हाल ।।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥24॥

जो हैं परमब्रह्म के ज्ञाता
अग्निदेव का पड़ा प्रभाव ।
शुक्लपक्ष दिन शुभलक्षण में
त्याग करे तन भरकर भाव ।।
सूर्य उत्तरायण होता जब
छः मासों का यह जो काल ।
जो उसमें मरता मिलता है
परमब्रह्म से जा तत्काल ।।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥25॥

धूमरात्रि औ' कृष्णपक्ष में
सूर्य दक्षिणायन के काल ।
जो तजता तन चन्द्रलोक जा
आता लौट धरा पर हाल ।।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥26॥

जाने के दो मार्ग जगत में
एक अंध दूसरा प्रकाश ।
शुक्लमार्ग से जा न लौटता
कृष्णमार्ग लौटता उदास ।।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥27॥

यद्यपि दोनों मार्ग जानते
जो है भक्त, सुनो अर्जुन!
मोहग्रस्त होते न कभी वे
योगयुक्त रहते यह सुन ।।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥28॥

जो भी भक्ति मार्ग पर चलता
पढ़ता वेद, करे तप, दान ।
कर्म सकाम करे फल पावे
वंचित होता नहीं सुजान ।।
मात्र भक्ति सम्पन्न करे वह
पा जाता फल किन्तु तमाम ।
और अंत में परमलक्ष्य को
पाता नित्यधाम निष्काम ।।

※ ※ ※

नौवां अध्याय

' परमगुह्यज्ञान '

श्रीभगवानुवाच – *इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।*
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥1॥

करते कभी न ईर्ष्या मुझसे
इसीलिए बतलाऊंगा ।
परमगुह्य यह ज्ञान और
अनुभूति मैं समझाऊंगा ।।
जिसे जानकर तुम असार
संसार-सिन्धु तर जाओगे ।
सारे क्लेशों से विमुक्त हो
प्रभु का कर धर पाओगे ।।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥2॥

सब विधाओं का राजा
यह राजज्ञान कहलाता है ।
सब रहस्य से गोपन है यह
विरले ही नर पाता है ।।
है यह परमशुद्ध आत्मा की
अनुभूति देने वाला ।
यह परिणति धर्म की है
अविनाशी सुख भरने वाला ।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥3॥

रखते श्रद्धा नहीं भक्ति में
क्या मुझको पावें वो लोग ।
जन्म-मृत्यु मग में ठगते हैं
भौतिक जग भटकें संयोग ।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥4॥

यह सम्पूर्ण जगत मेरे
अव्यक्त रूप में व्याप्त समझ ।
मुझमें सभी जीव हैं लेकिन
मैं उनमें हूं नहीं, अलग ।।

न च मत्स्थानि, भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥5॥

मेरे योगैश्वर्य को देखो
झांको इसमें तनिक जरा ।
मैंने सारी वस्तु बनायी
स्थित मुझमें नहीं धरा ।।
मैं पालक हूं सब जीवों का
और व्याप्त सर्वत्र लखो ।
दृश्य जगत का ईश नहीं हूं
मैं स्वरूप हित सृष्टि रखो ।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥6॥

प्रवहमान वह प्रबल वायु
सर्वत्र सदैव भरा नभ में ।
इसी तरह सारे प्राणी
स्थित मुझमें ज्यों कण प्रभ में ।।

*सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।।7।।*

कल्प अन्त होने पर प्राणी
मुझमें सभी प्रवेश करे ।
हे कौन्तेय! अन्य कल्पों में
पुनः शक्ति पा रूप धरे ।।

*प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।8।।*

यह सम्पूर्ण दृश्य जग आगे
रहता मेरे ही आधीन ।
होता स्वतः प्रकट फिर विनशे
मेरी इच्छा परम प्रवीण ।।

*न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।।9।।*

बांध न पाते मुझे कभी
ये सारे कर्मों के बंधन ।
उदासीन रहता विरक्त में
इनसे हे पाण्डुनन्दन! ।।

*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।10।।*

हैं अनंत शक्तियां हमारी
भौतिक प्रकृति उन्हीं में एक ।
करती कार्य इशारे पर यह
मेरे ही लख दिशा-विवेक ।।
इससे ही चर-अचर सभी
प्राणी होते उत्पन्न सुनो ।
इसके शासन में सब जीते
मरते बारंबार गुनो ।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥11॥

होता मैं अवतरित मनुज का
रूप लिए, सब मूढ़ हंसे ।
मेरे दिव्य स्वभाव नहीं वे जाने
माया जग में रहे फंसे ।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥12॥

मोहग्रस्त जो होते ऐसे
उनके होते अधम विचार ।
प्रवृति आसुरी और नास्तिक
ढोते हैं जीवन का भार ।।
मोहग्रस्त उस नर की आशा
मुक्ति और सब कर्म सकाम ।
और ज्ञान का अनुशीलन
वे होते हैं व्यर्थ तमाम ।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥13॥

मोहमुक्त जो महामना है
रहते दैव प्रकृति आधीन ।
वे निमग्न भक्ति में रहते
सुनो पार्थ! वे परम धुरीन ।।
मुझको सदा समझते हैं वे
आदि और अविनाशी रूप ।
नहीं कहीं आकर्षित होते
मेरे ही लख अन्यस्वरूप ।।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।14।।

ऐसे महामना मेरी महिमा का
है नित्य करे कीर्तन ।
दृढ़ संकल्प लिए प्रयास करते
होता है परिवर्तन ।।
नमस्कार कर भक्तिभाव से
पूजा में रहते हैं लीन ।
होकर भाव विभोर बिलखते
पाने के हित होकर दीन ।।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।।15।।

अन्य लोग जो ज्ञानवान हैं
अनुशीलन कर करते यज्ञ ।
पूजा करते विविध रूप में
अद्वय, विश्व रूप सर्वज्ञ ।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।।16।।

मैं ही कर्मकाण्ड हूं जानो
मैं ही यज्ञ पितृ-तर्पण ।
औषधि दिव्य मंत्र भी मैं हूं
घी, अग्नि, आहुति, अर्पण ।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥17॥

माता-पिता चराचर का मैं
आश्रय और पितामह जान ।
मैं ही ज्ञेय, शुद्धिकर्त्ता भी
प्रणव स्वयं मैं, मुझको मान ।।
मैं ही हूं ऋग्वेद, साम औ'
यजुर्वेद भी मुझको जान ।
मैं ही सब में हूं, सब हूं मैं
केवल एक मुझे पहचान ।।

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥18॥

मैं ही लक्ष्य, साक्षी, स्वामी हूं
मैं पालनकर्त्ता औ' धाम ।
मैं ही शरणस्थली भी हूं
और मित्र, प्रिय, मुक्त अकाम ।।
मैं ही सृष्टि, प्रलय भी मैं ही
मैं ही हूं सबका आधार ।
मैं ही सबका आश्रय भी हूं
औ' अविनाशी बीज प्रकार ।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥19॥

ताप प्रदाता भी मैं ही हूं
मैं ही वर्षा, मैं ही मेह ।
मैं साक्षात मृत्यु औ' मैं ही
हूं अमरत्व लिंए नर देह ।।
सत् और असत् मुझी में दोनों
सुन हे अर्जुन! मेरी बात ।
इस विराट ब्रह्माण्ड बीच में
केवल मैं ही मैं अवदात ।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक–
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥20॥

जो वेदों का अध्ययन करते
और सोमरस पान करे ।
स्वर्गप्राप्ति के हित गवेषणा
मुझे पूजते मान अरे ।।
होकर शुद्ध पाप कर्मों से
लेते जन्म इन्द्र के धाम ।
जहां भोगते सुख देवों-सा
आनन्दित रहते निशि-याम ।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं-विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥21॥

इस प्रकार जब वे विस्तृत
स्वर्गिक सुख का कर लेते भोग ।
हो जाते हैं क्षीण पुण्यफल
आते पुनः मर्त्य भव-रोग ।।
इस प्रकार तीनों वेदों के
सिद्धान्तों में दृढ़ रहे ।
इन्द्रिय सुख की कर गवेषण
जन्म-मृत्यु का चक्र लहे ।।

अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥22॥

किन्तु अनन्य भाव से मेरे
दिव्य रूप जो ध्यान धरे ।
मेरी पूजा करे निरंतर
और भक्ति से भरे हरे ।।
उनकी जो आवश्यकताएं
मैं ही पूर्ण किया करता ।
जो कुछ उनके पास बचा है
उसकी मैं रक्षा करता ।।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥23॥

जो हैं भक्त अन्य देवों के
श्रद्धा से पूजन करते ।
वे भी तो हैं मुझे पूजते
ढंग गलत हैं जो बरते ।।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥24॥

मैं समस्त यज्ञों का भोक्ता
एक मात्र हूं मैं स्वामी ।
दिव्य प्रकृति मेरी न जानते
गिरते नीच नरकगामी ।।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥25॥

जो देवों की पूजा करते
वे देवों के घर जाते ।
और पितरों को जो पूजे
स्वंय पितर बनते जनते ।।
जो उपासना भूतों की करता
भूतों के घर जाता ।
जो मेरी पूजा करता है
मुझे धाम मेरा पाता ।।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥26॥

पत्र, पुष्प, फल, जल जो देता
भरकर भक्ति प्रेम के हार ।
तुच्छ भले हो हो नगण्य
पर मैं करता उसको स्वीकार ।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषिं ददासि यत् ।
यत्पस्यासि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम् ॥27॥

तुम जो कुछ करते, खाते हो
जो कुछ अर्पण दान करो ।
जो भी करो तपस्या, मुझको
अर्पित कर सम्मान करो ।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥28॥

ऐसा कर तुम कर्मबन्ध से
फल शुभ-अशुभ कर्म से मुक्त ।
अपने चित्त थिर कर संग मेरे
योग मार्ग में हो जा युक्त ।।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥29॥

नहीं किसी से द्वेष करूं मैं
पक्षपात भी नहीं करूं ।
सबके हित समभाव बनाता
कभी किसी से नहीं डरूं ।।
भक्तिभाव मेरी करता जो
वह है मेरा मित्र परम ।
मुझमें वह स्थित, निभता है
उससे मेरा मित्र धरम ।।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥30॥

है जघन्यतम कर्म कर रहा
किन्तु भक्तिरत है जो जीव ।
वह है साधुपुरुष क्योंकि
अपने संकल्पों में है शिव ।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥31॥

धर्मात्मा तुरंत बन जाता
चिर शान्ति पाता वह जान ।
मेरा भक्त नहीं मिट सकता
पार्थ करो घोषित आख्यान ।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्व येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥32॥

जो भी मेरी चरण-शरण में
आता, भले नीच से नीच ।
वैश्य, शूद्र, नारी जो भी हो
देता सबके पाप उलीच ।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥33॥

धर्मप्राण ब्राह्मण, भक्तों, राजाओं का
फिर क्या कहना?
अर्जुन प्रेम-भक्ति में डूबो
भव दुःख पड़े नहीं सहना ।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥34॥

अपने मन को मेरे चिंतन में
रखो, मम भक्त बनो ।
नमष्कार, मेरी पूजा कर
मुझमें ही अनुरक्त रहो ।।
पूर्णतया मुझमे तल्लीन हो
पा जाओगे मेरा धाम ।
मुझको जो हूं लक्ष्य तुम्हारा
एकमात्र बस केवल श्याम ।।

※ ※ ※

दसवां अध्याय

' श्री भगवान् का ऐश्वर्य '

श्रीभगवानुवाच – ***भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।***
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥1॥

महाबाहु हे अर्जुन! अब तुम सुनो
तुम्हें जो कहता हूं ।
मेरे प्रिय सखा हो तुम
औ' नित्य साथ मैं रहता हूं ।।
मैं तेरे ही लाभ के लिए
ऐसा ज्ञान प्रदान करूं ।
अब तक जो भी दिया ज्ञान है
उससे महत् बखान करूं ।।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥2॥

मैं हूं कौन? कहां से आया?
नहीं देवता ऋषि जाने ।
क्योंकि वे मुझसे उद्भूत हैं
मैं क्या हूं वे अनजाने ।।

यो माम जमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥3॥

मैं अनादि हूं और अजन्मा
सब लोको का हूं स्वामी ।
जो मुझको इस तरह जानता
पाप मोहगत वह प्राणी ।।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥4॥

बुद्धि ज्ञान औ' मुक्ति मोह से
संशय क्षमा भाव औ' सत्य ।
इन्द्रिय औ' मन-निग्रह सुख-दुःख
जन्म-मृत्यु भय-अभय असत्य ।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥5॥

तुष्टि, दान, तप, यश-अपयश सब
समता और अहिंसा मान ।
ये सारे गुण दिये जीव को
जिसे किया मैंने उत्पन्न ।।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥6॥

सप्तर्षिगण उससे भी जो पूर्व
चार हैं ऋषि हुए ।
सारे मनु मेरे मन से ही
उपजे नभ को सहज छुए ।।
औ' विभिन्न लोकों में रहते
जितने सारे जीव जहान ।
इसी तरह सब बनते-मिटते
नित होता रहता निर्माण ।।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥7॥

जो मेरे ऐश्वर्य योग से
पूर्वतया होता आश्वस्त ।
वह तत्पर अनंत भक्ति में
हरदम रहता निज में मस्त ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्तते ।
इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥8॥

मैं समस्त जगतों का कारण
जो है भौतिक औ' अध्यात्म ।
मुझसे ही उद्भूत वस्तु सब
मैं ही हूं जानो सर्वात्म ॥
भलीभांति जाने जो नर यह
बुद्धिमान वह प्रेम करे ।
अन्तर से नित पूजा करता
भक्तिभाव में बहे भरे ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥9॥

शुद्ध भक्तों के जो विचार हैं
वे सब मुझमें वास करें ।
मेरी सेवा में अर्पित वे
ज्ञान, दान सुख रास करें ॥
मेरी चर्चाओं में रत रहता
संतोष सदा पाता ।
आनन्दित होता रहता है
अनुभव को गहता जाता ॥

तेषां सततयुक्तानां भजता प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥10॥

जो मेरी सेवा में रत है
प्रेम सहित करते पूजन ।
ज्ञान प्रदान उन्हें करता मैं
आ जाते मुझतक ले मन ।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥11॥

उन पर कृपा बरसती मेरी
करता उन हृदयों में वास ।
ज्ञानदीप को वहां जलाता
मिटता अंधकार का पाश ।।

अर्जुन उवाच – ***परं ब्रह्म परम धामं पवित्रं परमं भवान् ।***
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥12॥

आप परम भगवान प्रभु हैं
परमधाम औ' परम पवित्र ।
परम सत्य हैं, नित्य, दिव्य हैं
आदि पुरुष ओ मेरे मित्र ।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥13॥

हैं महानतम् और अजन्मा
असित, व्यास, देवल, नारद ।
इसी सत्य की पुष्टि करते हैं
सब ऋषि हे परम वरद ।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवा ॥14॥

कहा आपने जो कुछ मुझसे
पूर्णतया वह सत्य प्रभो ।
देव असुरगण नहीं आपको
समझेंगे हे कृष्ण विभो ।।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥15॥

हे सबके उद्गम परमेश्वर
हे समस्त प्राणों के प्राण ।
हे देवों के देव, आपही
अखिल विश्व को देते त्राण ।।
निःसंदेह आपही अपने को
जाने हैं हे पुरुषोत्तम ।
अंतरंग जो शक्ति आपकी
उसको समझ सकें क्या हम?

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥16॥

कृपा करें मुझपर, बतलायें
विस्तृत अपने दैवेश्वर्य ।
जिसके द्वारा सभी लोक में
रहते व्याप्त महत आश्चर्य ।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥17॥

मैं किस तरह आपको ध्याऊं
हे योगेश्वर, हे घनश्याम!
किन रूपों में याद करूं मैं
तुम्हें, बता हे करूणाधाम ।।

विस्तेरणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥18॥

पुनः आप अपने ऐश्वर्यों का
विस्तृत में दें ज्ञान मुझे ।
योग शक्ति का, प्रेमभक्ति का,
आया है अब ध्यान मुझे ।।
तेरे हित जितना सुनता हूं
तृप्त नहीं होते हैं कान ।
निःसृत जो होते तव मुख से
शब्दामृत प्राणों के गान ।।

श्री भगवानुवाच – ***हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।***
प्राधान्यतः कुरूश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥19॥

मुख्य-मुख्य वैभव रूपों का
वर्णन करता धरना ध्यान ।
सब ऐश्वर्य असीम जान लो
हे मेरे, हे चतुर सुजान ।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥20॥

मैं समस्त जीवों के हृत में
स्थित परमेश्वर हूं जान ।
आदि, मध्य औ' अंत सभी
जीवों का, हे अर्जुन, पहचान ।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नदक्षत्राणामहं शशी ॥21॥

आदित्यों में विष्णु
प्रकाशों में तेजस्वी सूर्य प्रखर ।
औ' मरूतों में हूं मरीचि मैं
नक्षत्रों में शशि सुन्दर ।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥22॥

वेदों में मैं सामवेद हूं
इन्द्र देवताओं में जान ।
इन्द्रियों में मन और सभी
जीवों में हूं चेतना महान ।।

रूद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरूः शिखरिणामहम् ॥23॥

मैं समस्त रूद्रों में शिव हूं
यक्ष-राक्षसों में धनदेव ।
वसुओं में हूं अग्नि, पर्वतों में
मेरू है नाम सदैव ।।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥24॥

मैं पुरोहितों में वृहस्पति
हे अर्जुन! यह बात सुनो ।
सेनानी में कार्तिकेय मैं
जलाशयों में सिन्धु गुनो ।।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥25॥

मैं महर्षियों में भृगु हूं
औ' वाणी में ओंऽकार प्रणव ।
यज्ञों में मैं हूं पुनीत जप
अचलों में हिमवान प्रभव ।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥26॥

मैं समस्त वृक्षों में पिप्पल
देवर्षियों में हूं नारद ।
गन्धर्वों में नाम चित्ररथ
सिद्ध पुरुष में कपिल वरद ।।

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥27॥

उच्चैश्रवा अश्व में जानो
जो समुद्र से था निकला ।
गजराजों में ऐरावत हूं
मनुजों में सम्राट भला ।।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥28॥

हथियारों में वज्र, सुरभि गायों में हूं
कामधेनु यह जान ।
लोकप्रेम में कामदेव मैं
सर्पों में वासुकि महान ।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥29॥

नागों में मैं हूं अनंत
जलचर में वरूण देव जानो ।
पितरों में अर्यमा समझ लो
नियम नियामक यम मानो ।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥30॥

दैत्यों में प्रह्लाद भक्त मैं
दमन दलन में हूं मैं काल ।
पशुओं में हूं सिंह
पक्षियो में जानो गरूड़ विशाल ।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥31॥

शुचि करनेवालों में वायु
शस्त्रधारियों में हूं राम ।
और मत्स्य में नाम मगर मैं
नदियों में गंगा है नाम ।।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥32॥

मैं समस्त सृजनों का आदि
मैं ही मध्य और हूं अंत ।
विद्या में अध्यात्म महत् मैं
तर्कशास्त्र ढिग सत्य अनंत ।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥33॥

हूं अक्षर में मैं अकार
और समासों में हूं द्वन्द्व ।
मैं हूं शाश्वत काल और
सृष्टाओं में ब्रह्म अमंद ।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥34॥

मैं हूं मृत्यु सर्वभक्षी
सबको उत्पन्न किया करता ।
नारी में हूं कीर्ति लक्ष्मी
सबको विस्तार दिया करता ।।
वाणी स्मृति औ' बुद्धि विमल
हूं धृति और क्षमा मानों ।
सबमें हूं सब हैं मुझमें
सब हूं मैं बात सत्य मानो ।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥35॥

सामवेद के गीतों में मैं
बृहत्साम हूं ध्यान धरो ।
गायत्री हूं छंद, माह में
मार्गशीर्ष लख ज्ञान करो ।।
ऋतुओं में मधुऋतु बसंत हूं
फूल खिलाता मुग्ध मगन ।
सबको हर्षित करता भरता
अन्तर में उल्लास सुमन ।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥36॥

मैं छलियों में द्यूत जुआ हूं
और तेजियों में हूं तेज ।
मैं ही विजय और साहस हूं
बलवानों का बल बन्धेज ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥37॥

वृष्णिवंशी मैं वासुदेव हूं
और पाण्डवों में अर्जुन ।
मुनियों में हूं व्यास और
कवियों में हूं उशना यह सुन ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥38॥

दण्ड दमन साधन में हूं मैं
विजयकांक्षी में हूं नीति ।
हूं रहस्य में मौन समझ लो
बुद्धिमान में ज्ञान प्रतीति ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥39॥

जनकबीज हूं मै सृष्टि का
जितने सभी चराचर जीव ।
मेरे बिना न रह सकता है
कोई, चाहे तुच्छ अमीव ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥40॥

अंत नहीं मेरी विभूतियों का
हे सुनो परंतप, बात ।
तुमसे जो भी कहा मात्र संकेत
एक है जानो तात ।।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥41॥

एक बात तुम यही जान लो
जितना सारा है ऐश्वर्य ।
तेजस्वी सृष्टियां मात्र
है एक स्फुलिंग का सौन्दर्य ।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥42॥

किन्तु जरूरत क्या है अर्जुन!
विशद ज्ञान की तुम बोलो ।
एक अंश से व्याप्त ब्रह्म को
धारण करता हूं तोलो ।।

※ ※ ※

ग्यारहवां अध्याय

' विराट रूप '

अर्जुन उवाच – ***मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।***
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥1॥

जिन अध्यात्म गुह्य विषयों का
दिया आपने मुझको ज्ञान ।
अर्जुन अति विनम्र हो बोला–
मेरा मोह मिटा भगवान ।।

भवाप्यौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥2॥

सुना आपसे जीवों की
उत्पत्ति और लय की सब बात ।
कमलनयन, अक्षय महिमा अब
हुई आपकी मुझको ज्ञात ।।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरूषोत्तम ॥3॥

हे परमेश्वर! कहा आपने जैसा
उसे निहार रहा ।
दृश्य जगत में कैसे प्रविशे
देखूं, जरा विचार रहा ।।

स्वयं आपके उस स्वरूप के
दर्शन का हूं अभिलाषी ।
हे पुरूषोत्तम! मुझे दिखा दें
वही रूप जो अविनाशी ।।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।।4।।

हे प्रभु! गर मैं हूं समर्थ
दर्शन में, अगर विचार रहे ।
मुझपर करें असीम कृपा वह
हे योगेश्वर! प्राण चहे ।।

श्रीभगवानुवाच– ***पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः।***
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।5।।

हे अर्जुन! हे पार्थ, निहारो
ये विभूतियां हैं मेरी ।
शत–सहस्त्र दैवी रंगों में
विविध रूप देखो ढेरी ।।

पश्यादित्यान्वसून्रूद्रानश्विनो मरूतस्तथा ।
वहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।6।।

हे भारत! तुम इन्हें देख
आदित्यों, वसुओं, रूद्रों को ।
अश्विनी कुमारों और देवताओं के
हर्षित मुद्रों को ।।
देख रूप अनेक विस्मयी
देखा जिसको कोई नहीं ।
तुमसे पहले, औ' न सुना है
मुझसे मानो बात सही ।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥7॥

हे अर्जुन तुम जिसे देखना
चाह रहे तत्क्षण देखो ।
मेरे इस शरीर में सारे
भूत, भविष्यत्, क्षण देखो ।।
विश्वरूप दिखलाने वाला
मैं हूं, मेरा रूप निहार ।
एक जगत चर-अचर सभी
मिल जाएंगे समस्त संसार ।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥8॥

किन्तु नहीं अपनी इन आंखों से
मुझको लख पाओगे ।
अतः दे रहा दिव्य चक्षु मैं
उस विभूति तक जाओगे ।।

सञ्जय उवाच – *एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।*
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥9॥

संजय ने तब कहा – नृपति!
इस तरह परमयोगी बोले ।
विश्वरूप अर्जुन समक्ष कर
गहन भेद अपना खोले ।।

अनेकवक्त्रनमनेकाद्भुत दर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुद्यम् ॥10॥

अर्जुन ने उस विश्वरूप में
लख अनेक मुख-नेत्र डरे ।
दृश्य अनंत विस्मयी देखे
दैवी आभूषण सजे भरे ।।
अस्त्र-शस्त्र दैवी अनेक थे
दैवी वस्त्र माल अनगिन ।
दिव्य गंध से भरी हुई सब
चमक-दमक द्युतिमान नवीन ।।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥11॥

सब कुछ था आश्चर्यमयी
सब दीप्तिमान सब था विस्तार ।
सर्वव्याप्त तेजोमय सब था
था असीमता का आधार ।।

दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भास्तस्य महात्मनः ॥12॥

उग आये गर सूर्य हजारों
एकबार नभ में फिर भी ।
परम पुरुष के विश्वरूप की
तुलना नहीं तेज प्रभ की ।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥13॥

अर्जुन ने उस विश्वरूप में
देखे शत-सहस्त्र ब्रह्माण्ड ।
थे अनंत अंशों में बिखरे
अति लघु और महत् सब पिण्ड ।।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥14॥

मोहग्रस्त, विस्मित, रोमांचित
अर्जुन अतिशय डरा-डरा ।
नतमस्तक हो नमष्कार कर
कर जोड़े नत् विनय भरा ।।
लगा प्रार्थना करने प्रभु की
हे अनंत, हे सर्वाधार ।
गहन सिन्धु में गोते खाकर
प्रकट हुए उसके उद्‌गार ।।

अर्जुन उवाच– ***पश्यामि देवांस्तव देव दे हे सर्वास्तथा भूत विशेषसङ्घान।***
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ मृषींश्च सर्वानुरङ्गाश्चदिव्यान् ॥15॥

देख रहा मैं सभी देवता
सभी जीव एकत्रं समान ।
अुर्जन ने तब कहा विनत हो–
हे हे कृष्ण, विश्व के प्राण ।।
कमल पत्र पर देख रहा हूं
एक ओर ब्रह्मा आसीन ।
एक ओर प्रभु शिव समाधि में
ऋषि औ' सर्प अनेकाधीन ।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥16॥

हे विश्वेश्वर! विश्वरूप हे!
हे अनंत! हे वृहदाकार!
हाथ, पेट, मुख, नेत्र हजारों
तव शरीर का यह विस्तार ।।

फैले चारों ओर, न इनका
कहीं दीखता आदि न अंत ।
मध्य कहां कुछ लख ना पाता
हे अकाम! हे हे भगवंत ।।

***किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।17।।***

उसे देखना बड़ा कठिन है
रूप तेज इतना ज्यादा ।
ज्वलित अग्नि-सी, सूर्य प्रभा-सी
फैली अद्भुत रूप विभा ।।
तो भी मैं सर्वत्र देखता
तेजोमय स्वरूप आगार ।
जो अनेक मुकुटों-चक्रों से
भूषित गदा हाथ के भार ।।

***त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वत धर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरूषो मतो मे ।।18।।***

परम आद्य हैं ज्ञेय वस्तु प्रभु
आश्रय में ब्रह्माण्ड अपार ।
अव्यय और पुराण पुरूष हैं
नाथ आप हे धर्माधार ।।

***अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।।19।।***

आदि मध्य औ' अन्तहीन है
यश अनंत है फैल रहा ।
सूर्य चन्द्रमा नेत्र आपके
अनगिन भुज लख रहा अहा ।।
मुख से ज्वलित अग्नि की लपटें
देख रहा, है निकल रहीं ।
जलता-सा ब्रह्माण्ड दीखता
हे अनंत अन्यत्र सभी ।।

द्यावापृथिव्योदिमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥20॥

यद्यपि आप हैं एक
आपमें किन्तु समस्त आकाश भरा ।
सारे लोकों के बीच रिक्ति
रहता वह भी अवकाश भरा ।।
हे महापुरुष! हे महाकाल!
तेरा ये अद्भुत रूप देख ।
भयभीत हो रहे लोक सभी
अति भीम भयानक को निरेख ।।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥21॥

ले रहे शरण प्रभु तेरा ही
देवों के वे सारे समूह ।
चहुंओर देखता प्रवेशते
आप में बना ज्यों चक्रव्यूह ।।

उनमें कुछ हैं भयभीत बड़े
हे नाथ, जोड़कर हाथ खड़े ।
प्रार्थना कर रहे 'हो' 'जय हो'
सब सिद्ध महर्षि बड़े-बड़े ।।

रूद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरूतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥22॥

शिव विविध रूप, आदित्य वसु
वे साध्य और वे विश्वदेव ।
अश्विनीकुमार, गन्धर्व, यक्ष
वे मरूत, पितरगण, सिद्धदेव ।।
सब देख-देख विस्मित होकर
है रूप तुम्हारा महाकार ।
कल्याण करो, कल्याण करो
हे हे अनंत, हे हे उदार ।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहुदरं बहुद्रंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥23॥

तेरे अनेक मुख, नेत्र, बाहु
जंघा, पद, पेट निहार रहे ।
ये दांत भयानक देख-देख
विचलित हो तुम्हें पुकार रहे ।।
मैं भी अतिकम्पित हुआ नाथ
सवलोक देवगण भी डरकर ।
मैं देख रहा सब कांप रहे
हे महाबाहु! कैसे थरथर ।।

**नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥24॥**

हे सर्वव्यापी! हे ज्योतिर्मय
नाना रंगों में युक्त रूप ।
आकाश छू रहे मुख फैले
भयभीत कर रहे हैं अनूप ।।
मेरा मन भय से विचल रहा
मैं धैर्य न कर पाता धारण ।
संतुलन खो रहा मन मेरा
कुछ समझ न आता है कारण ।।

**दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥25॥**

मुझपर प्रसन्न हों आप प्रभु
हे जगन्निवास! हे देव ईश!
प्रलयाग्नि रूप, मुख-दंत देख
भयभीत नाथ, दीखे न दिश ।।
संतुलन बिगड़ने लगा प्रभु
हर ओर मोह के मेघ घिरे ।
हैं प्राण विकल, कुछ नहीं पता
अब गिरे इधर या उधर गिरे ।।

**अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सुतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योद्यमुख्यै ॥26॥**

अपने समस्त राजाओं के संग
धृतराष्ट्र के पुत्र सभी ।
वे भीष्म, द्रोण औ' कर्ण सभी
योद्धा मुख में जा रहे अभी ।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति द्रंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥27॥

उनमें से कुछ के सिर उलझे हैं
नाथ आपके दांतों में ।
घूर्णित हो रहे पिसे जाते
जैसे-तैसे वे आंतों में ।।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥28॥

जाकर समुद्र में खो जाते
नदियों के चंचल तीव्र वेग ।
उस तरह सभी योद्धा तेरे
मुख में प्रवेशने लगे वेग ।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥29॥

मैं देख रहा सब लोग वेग से
खिंचे जा रहे हैं मुख में ।
जिस तरह पतिङ्गे मरने को
दौड़े जाते अग्नि मुख में ।।

लेलिह्यसे ग्रसह्मानः समन्ता-ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥30॥

मैं देख रहा हे नाथ
आपके मुख से निकली लपटों में ।
निगले जा रहे सभी दिशि को
सबको ही जैसे झपटों में ।।

सारे ब्रह्माण्ड झुलसते हैं
विकराल ज्वाल से प्रभु तेरे ।
हैं प्रकट हो रहे किरणों में
हे नाथ! हाथ में सब तेरे ।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि
प्रजानामि तव प्रवृतिम् ।।31।।

हे देवेश! मुझे बतलायें
उग्र रूप में को हैं आप?
नमष्कार है, कृपा करें
मुझपर प्रसन्न हों, हरे संताप ।।
आप आदि भगवान
आपको जाने चाह रहा है मन ।
नहीं जान पा रहा आपका
कौन प्रयोजन है भगवन् ।।

श्रीभगवानुवाच – ***कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो***
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृतः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योद्धाः ।।32।।

मैं सारे जग को विनष्ट करने हित
आया हूं बन काल ।
सिवा पांच पाण्डव के सारे
लोग लगेंगे काल हवाल ।।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैतेनिहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥33॥

अतः उठो अर्जुन, लड़ने के हित
तुम हो जाओ तैयार ।
और करो अर्जित यश
भोगो राज्य, शत्रु का कर संहार ।।
ये सारे हैं मरे हुए
इनको पहले ही मार दिया ।
हे सव्यसाची, तुम युद्ध करो
तुम हो निमित्त बस वार किया ।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मां व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥34॥

भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण
जितने योद्धा दिखते आगे ।
मर चुके बहुत पहले मुझसे
बधकर इनका, सब भय त्यागे ।।
क्यों विचलित होते हो बोलो
मैं कहता केवल युद्ध करो ।
रणक्षेत्र शत्रुओं को मारो
अपने जीवन को शुद्ध करो ।।

सञ्जय उवाच – *एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य*

कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं

सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्यः ॥35॥

हे राजन! प्रभु के मुख से

जब अर्जुन ने ये वचन सुने ।

कांपते करों से हाथ जोड़

शतबार नमन कर, अर्थ गुने ।।

भयभीत हुआ करता थरथर

दोनों कर जोरे किया नमन ।

अवरूद्ध स्वरों में लख प्रभु को

प्रारम्भ किया निज स्वगत कथन ।।

अर्जुन उवाच – ***स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या***

जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति

सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥36॥

हे प्रभु, लेकर नाम आपके

हर्षित होता है संसार ।

होते हैं अनुरक्त आपके

पाकर कृपा अथोर अपार ।।

सिद्ध पुरुष झुक नमन कर रहे

और असुरगण हो भयभीत ।

भाग रहे वे इधर उधर हैं

ठीक सज्जनों के विपरीत ।।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनंत देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥37॥

ब्रह्मा से भी आप बड़े हैं
आप आदिश्रष्टा हे नाथ ।
तो फिर वे क्यों नमन करे ना
रखकर चरण कमल पर माथ ।।
हे अनंत! हे जगन्निवास!
हे देव ईश! हे महात्मना!
परमस्रोत अक्षर कारण के
कारण जग से परे गना ।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण स्त्वमस्यविश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥38॥

आदि देव हे पुरुष सनातन
आश्रय दृश्य जगत के धाम ।
सब कुछ आप जानने वाले
सब हैं आप, आप विश्राम ।।
परे सभी भौतिक गुणों से हैं
आश्रय परम अनंत उदार ।
यह सम्पूर्ण दृश्य जग भी है
व्याप्त आप में बनकर प्यार ।।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥39॥

आप वायु हैं, परमनियंता
आप अग्नि हैं, जल हैं आप ।
आप चन्द्रमा, आदि जीव हैं
प्रपितामह हे पुण्य प्रताप ।।
नमस्कार है बार-बार
हूं सहस बार कर रहा नमन ।
भक्ति-भाव के भवत्तरंग से
पार चाहता जाना मन ।।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एवं सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्व समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः ॥40॥

नमन पृष्ठ को, नमन अग्र को
नमन नमन हर ओर करूं ।
हे असीम हे भक्तिस्रोत
नत नमन अहर्निश भोर करूं ।।
सभी पराक्रम के स्वामी
हैं आप अनंत सर्वव्यापी ।
अतः आप सबकुछ हैं सबके
पुण्यवान हो या पापी ।।

सखेति मत्त्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण, हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥41॥

मैंने हठवश कहा आपको
हे यादव, हे कृष्ण सखे ।

मेरे इस सम्बोधन से प्रभु
कहो, कहीं क्या हृदय दुःखे?
नहीं जानता था महिमा मैं
नाथ आपका अतुल अपार ।
कहें अजाने या प्रमादवश
जो भी कहा, क्षमें करतार ।।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहार शय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहंप्रमेयम् ॥42॥

नहीं-नहीं इसके पहले भी
कई वक्त आये ऐसे ।
साथ लौटते खाते-पीते
वचन कहे वैसे-तैसे ।।
किया अनर्थ बहुत पहले भी
जाने अनजाने हे नाथ ।
क्षमा करें सब अपराधों को
भूल हुई, चरणों पर माथ ।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥43॥

आप चराचर के हे स्वामी
दृश्य जगत के पिता महान ।
परमपूज्य आध्यात्मगुरु हे
कोई तुल्य क्या आप समान ?
कोई तुलना नहीं आपकी
हे अतुलित शक्तिवाले ।
भला कौन तीनों लोकों में
बड़ा आपसे, जो पाले ।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देवसोढुम् ॥44॥

आप पूज्य सब जीव जगत के
नत साष्टाङ्ग नमन करता ।
महज याचना करू कृपा की
नाथ चरण पर सिर धरता ।।
सुत की सहन ढिठाई करता
जैसे कोई पिता महान ।
मित्र-मित्र की सह लेता है
जैसे उद्धत्तता या मान ।।
या प्रिय जैसे प्रियापराध को
करता सहन न देता ध्यान ।
उसी तरह मेरी गलती को
क्षमा करें हे कृपानिधान ।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥45॥

पहले कभी न देखा जिसको
रूप विराट किया दर्शन ।
हर्ष भर रहा है अन्तर में
पुलकित क्षण-क्षण होता मन ।।

किन्तु साथ ही डरता है मन
अतः नाथ अब कृपा करें ।
हे देवेश! जगन्निवास हे
सौम्य रूप अब आप धरें ।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छाामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ।।46।।

हे विराट! हे सहस्त्रबाहो!
कृपा कीजिये मुझपर आप ।
रूप चतुर्भुज दर्शन देकर
तुरत मेटिये तन-मन ताप ।।
शङ्ख, चक्र औ' गदा; पद्म
चारों करके कर में धारण ।
दर्शन दीजै नाथ रूप वह
देखें, तरस रहा है मन ।।

श्रीभगवानुवाच – ***मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं***
रूप परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।।47।।

कहा कृष्ण ने– हे अर्जुन!
मैं हूं प्रसन्न तुम पर अतिशय ।
आत्मयोग से तुम्हें दिखाया
रूप अरूप न करना भय ।।

परमविश्व यह रूप पूर्व में
देखा नहीं किसी ने जान ।
इस असीम तेजोमय छबि को
आदि रूप को तुम पहचान ।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।।48।।

तुमसे पूर्व न देखा कोई
इस विराट का तेज स्वरूप ।
प्राप्त नहीं कर सकता जग में
कोई ऐसी युक्ति अनूप ।।
मुझे प्राप्त कर सके न कोई
वेदाध्ययन या करके यज्ञ ।
दान, पुण्य या कठिन तपस्या
भी करके रहते सब अज्ञ ।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।।49।।

मेरा रूप भयावह लख के
तुम अत्यन्त हुए विचलित ।
अब मैं इसे समेट रहा हूं
हो निर्भय मत हो मोहित ।।
तुम समस्त चिन्ताओं से अब
पूर्व की तरह हो जा मुक्त ।
इच्छित रूप लखो अब मेरे
करके शान्तचित्त उन्मुक्त ।।

सञ्जय उवाच – *इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा*
स्वकं रूपं दर्शयामासभूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥50॥

संजय ने तब कहा धृतराष्ट्र से
बोले वही कृष्ण के बैन ।
सहज चतुर्भुज रूप निरखकर
भर आये अर्जुन के नैन ।।
पुनः अंत में रूप मनुज का
द्विभुज रूप प्रभु दिखलाये।
धैर्य बन्धाया फिर अर्जुन को
दूर किया भय, हरसाये ।।

अर्जुन उवाच – *दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।*
इदानीमस्मि संवृतः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥51॥

आदि रूप में देख कृष्ण को
अर्जुन बहुत प्रसन्न हुआ ।
हाथ जोड़कर गदगद हिय
मन-ही-मन झुककर चरण छुआ ।।
सहज मानवी रूप देखकर
जो अतितेज पुंज अभिराम ।
स्थिरचित हो गया शान्त वह
धन्य-धन्य तुम हे घनश्याम ।।
अब मैं अपने पूर्व रूप में
प्राकृत दशा किया है प्राप्त ।
हे मोहन! हे मधुर, मनोहर!
मिटे सभी मेरे संताप ।।

श्रीभगवानुवाच – ***सुदुर्दर्शनमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।***
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥52॥

कहा कृष्ण ने हे अर्जुन!
तुम जो देख रहे यह रूप ।
इसे देख पाना अति दुष्कर
रहे ताक में देव अनूप ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥53॥

दिव्य नेत्र से देख रहे हो
जिस स्वरूप को मेरे आज ।
प्राप्त न कोई कर सकता है
नहीं जानता कोई राज ॥
नहीं वेद अध्ययन से मिलता
कठिन तपस्या भी है दूर ।
नहीं दान पूजा से मिलता
यह रहस्य जानो भरपूर ॥

भक्त्वा त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपः ॥54॥

केवल एक अनन्य भक्ति से
मुझको देख सकेगा नर ।
मुझे समझ सकता वह ही है
जो है मेरा भक्त प्रवर ॥
नहीं रूप दर्शन कर सकता
केवल यही बात लो जान ।
इस विधि से तुम पहुंच सकोगे
यह रहस्य सुन रखना ज्ञान ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥55॥

जो सकाम कर्मों के कल्मष
मनोधर्म से मुक्त हुआ ।
मेरी शुद्ध भक्ति में तत्पर
जो रहता वह मुझे छुआ ।।
जो मेरे हित कर्म कर रहा
मुझे मानता जीवन लक्ष्य ।
सब जीवों में रखता मैत्री
पा जाता वह मुझे अवश्य ।।

※ ※ ※

बारहवां अध्याय

'भक्तियोग'

अर्जुन उवाच – ***एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।***

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥1॥

जो सेवा में सदैव तत्पर
या पूजे जो ब्रह्म अव्यक्त ।
इन दोनों में अधिक पूर्ण को
नाथ करें अब इसको व्यक्त ।।

श्रीभगवानुवाच – ***मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।***

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥2॥

कहा कृष्ण ने– जो निज मन को
मुझमें एकाकार करे ।
श्रद्धा पूर्वक भक्ति करे जो
परमसिद्ध साकार वरे ।।
लगे सदा रहते पूजन में
करते ममहित कार्यसभी ।
मैं ही उनके केन्द्रबिन्दु में
रहता हूं हर काल अभी ।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥3॥

लेकिन स्ववश किये इन्द्रिय को
रखते सबके प्रति समभाव ।
करे कल्पना निराकार की
पूजे परमसत्य सत्‌भाव ।।
जो अव्यक्त सर्वव्यापी है
अकल्पनीय और उदार ।
परिवर्तन से परे अचल ध्रुव
छू न सके अनुभूति बयार ।।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।4।।

सबके हित चिन्तन में रहते
करते हैं सबका कल्याण ।
मिले अन्ततः मुझमें ही वे
हो जाते दो तन एक प्राण ।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।5।।

निराकार अव्यक्त रूप के प्रति
जो जन होते हैं आसक्त ।
उनके लिए प्रगति-पथ दुष्कर
पाना लक्ष्य कठिन अव्यक्त ।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।6।।

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।7।।

अपने सारे कार्य समर्पित कर
रखते हैं वे अविचल भाव ।
मेरी भक्ति मेरी पूजाकर
स्थिर चित्त शुभ मधुर बहाव ।।
परमप्रिय वे भक्त हमारे
'उनका मैं उद्धार करूं ।
जन्म-मृत्यु के भव-सागर से
उनका बेड़ा पार करूं ।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः ।।8।।

मुझमें अपने चित्त करो थिर
मुझमें सारी बुद्धि लगा ।
मुझमें वास सदैव करोगे
निसंदेह वह भक्ति जगा ।।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।।9।।

अविचल भाव न थिर रख सकते
तो मुझसे सुन हे अर्जुन ।
तो तुम भक्तिभोग को साधो
विधि-विधान से पालो गुन ।।
इस प्रकार तुम मुझे प्राप्त करने की
उत्पन्न चाह करो ।
पथ सीधा है, पहुचोगे, निश्चित
मुझ तक वह राह वरो ।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमोभव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।10।।

विधि-विधान से भक्ति योग का
भी गर हो न सके अभ्यास ।
तो मेरे हित कर्म करो
क्योंकि वह पूर्ण सिद्धि के पास ।।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥11॥

मेरे इस भावनामृत में
भी गर हो जाओ असमर्थ ।
तो तुम अपने कर्मफलों को
सहज त्याग, मानो वे व्यर्थ ।।
करो प्रयत्न आत्मस्थित
होने का हे अर्जुन, हे मित्र ।
देखोगे इस पर घटती
घटनाएं हैं बहुत विचित्र ।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥12॥

यह अभ्यास नहीं कर सकते
करो ज्ञान का अनुशीलन ।
लेकिन है बड़ ध्यान ज्ञान से
कर इस पर ही नित चिंतन ।।
कर्मफलों का त्याग श्रेष्ठ है
सदा ध्यान से यह जानो ।
मनः शान्ति पा सकता है नर
इससे यह निश्चित मानो ।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुख क्षमी ॥13॥

नहीं किसी से द्वेष करे जो
लेकिन जीवों का है मित्र ।
नहीं मानता निज को स्वामी
अहंकार से मुक्त विचित्र ।।
सुख-दुःख में सम भाव रहे जो
आत्म तुष्ट औ' रहे सहिष्णु ।
आत्मसंयमी मुझमें रत है
मन बुद्धि उसका प्रभविष्णु ।।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।14।।

निश्चय के संग थिर कर मन को
भक्तिभाव में लगा हुआ ।
ऐसा भक्त अतिशय प्रिय मुझको
प्रेमभक्ति में पगा हुआ ।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।15।।

कभी किसी को कष्ट न देता
विचलित उसे न अन्य करे ।
सुख-दुःख भय चिन्ता में सम जो
मेरा अति प्रिय धन्य अरे ।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।16।।

जो न सामान्य कार्य पर आश्रित
जो पटु सिद्ध औ' चिन्ताहीन ।
सब कष्टों से रहित
किसी फल के हित होता कभी न दीन ।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥17॥

जो न कभी हर्षित होता है
औ' न कभी करता है शोक ।
जो न कभी पछताता, इच्छा
करता कभी नहीं इस लोक ।।
शुभ औ' अशुभ त्यागता दोनों
रहता नहीं कभी आसक्त ।
वह अत्यन्त प्रिय है मेरा
है अनन्य वह मेरा भक्त ।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥18॥

शत्रु, मित्र जिसके हित सम हैं
सम है मान और अपमान ।
शीत-ताप सुख-दुःख यश-अपयश
जिसके हित हैं एक समान ।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥19॥

मुक्त सदैव कुसङ्गति से जो
सदा मौन संतुष्ट रहे ।
घर-बाहर की करे न चिन्ता
जो है उसमें तुष्ट रहे ।।
जो है दृढ़ ज्ञान में औ'
जो भक्ति में संलग्न सदा ।
ऐसा पुरुष प्रिय है मेरा
पर वे मिलते यदा कदा ।।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥20॥

जो चलते इस अमर पंथ पर
और नित बढ़ते जाते हैं ।
चरम लक्ष्य मुझको लखते हैं
श्रद्धा-सुमन चढ़ाते हैं ।।
पूर्णरूप से लगे हुए हैं
मेरी सेवा में जो प्राण ।
वे मेरे हैं भक्त पियारे
उनका नित होता कल्याण ।।

※ ※ ※

तेरहवां अध्याय

' प्रकृति, पुरुष तथा चेतना '

अर्जुन उवाच – ***प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।***
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥1॥

अर्जुन ने तब कहा– बताओ,
क्या है प्रकृति, पुरुष केशव?
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहो क्या
ज्ञान ज्ञेय का दो अनुभव ।।

श्रीभगवानुवाच – ***इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।***
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥2॥

कहा कृष्ण ने– हे अर्जुन!
यह देह क्षेत्र कहलाता है ।
इस शरीर को जान रहा जो
वह क्षेत्रज्ञ, बताता है ।।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यतज्ज्ञानं मतं मम ॥3॥

सभी शरीरों का ज्ञाता मैं
ज्ञाता को जाने जो ज्ञान ।
ऐसा मेरा मत है मानो
ज्ञाता को लेना पहचान ।।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥4॥

कर्मक्षेत्र क्या, कैसे निर्मित
क्या होते हैं परिवर्तन?
और कहां से उत्पन्न होता
और बदलता है क्षण क्षण ।।
कर्मक्षेत्र को कौन जानता
इसे जाननेवाला कौन?
क्या प्रभाव इसके है जानो
रखना ध्यान हृदय गह मौन ।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥5॥

ऋषियों के वैदिक मंत्रों में
कार्यकलापों का वर्णन ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान का
तर्क समेत कार्य कारण ।।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥6॥

पञ्च महाभूतों को समझो
अहंकार बुद्धि अव्यक्त ।
तीन गुणों की गुप्त अवस्था
दश इन्द्रियां और मन शक्त ।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥7॥

पांच इन्द्रिय विषय द्वेष, इच्छा
सुख-दुःख संघात सुनो ।
जीवन के लक्षण औ धैर्य का
कार्यक्षेत्र है इसे गुणो ।।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥8॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्म-मृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥9॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥10॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्त देशसेवित्वमरतिर्ज न संसदि ॥11॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥12॥

दंभहीनता औ' विनम्रता
सहिष्णुता, हिंसा से दूर ।
प्रामाणिक गुरु के ढिग जाना
शुचिता, स्थिरता भरपूर ।।
विषयों का परित्याग
आत्मसंयम जिसमें हंकार न हो ।
जन्म-मृत्यु औ' जरा रोग के
दोषों का अनुभाव कहो ।।

वैराग्य-सहज संतान प्रिया
घर अन्य वस्तुओं से मुक्ति ।
समभाव सभी घटना के प्रति
अनुराग अनन्य मेरी भक्ति ।।
एकान्तवास की हो इच्छा
औ' जन समूह से विलग रहे ।
साक्षात्कार आत्मा से हो
स्वीकारे इसको महत कहे ।।
औ' परम सत्य के दर्शन का
करता जो खोज ज्ञान वह है ।
इसके अतिरिक्त बचा जो भी
अज्ञान मात्र कहते वह है ।।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।13।।

कहते जिसको 'ज्ञेय'
विषय अब यही तुम्हें समझाऊंगा ।
जिसे जान तुम नित्य ब्रह्म को
जानोगे बतलाऊँगा ।।
सुनो ब्रह्म या आत्मा जो
है अनादि मेरे आधीन ।
परे कार्य-कारण से जग के
है स्थित यह बात प्रवीण ।।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।14।।

उनके हाथ, पांव, आँखें, सिर
और कान सर्वत्र खुले ।
सबमें व्याप्त एकरस स्थित
वह प्रभु केवल भक्ति तुले ।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच ।।15।।

सभी इन्द्रियों के प्रेरक वे
फिर भी सबसे दूर रहे ।
वे समस्त जीवों के पालक
अनासक्त भरपूर रहे ।।
वे हैं परे प्रकृति के गुण से
सभी गुणों के पर स्वामी ।
दिव्य इन्द्रियां होती उनकी
कल्मष् रहित उर्ध्वगामी ।।

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।16।।

जड़ जंगम समस्त जीवों के
भीतर-बाहर वह रहता ।
परम सत्य, जो शास्त्र बताते
हवा-नीर सा है बहता ।।
उसे देखने और जानने में
भौतिक इन्द्रिय हैं असमर्थ ।
क्योंकि वह अति सूक्ष्म बिन्दु है
जिसमें सोया सिन्धु समर्थ ।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।17।।

यद्यपि वह समस्त जीवों के
बीच बंटा सा रहता है ।
लेकिन नहीं विभाजित होता
कभी भाव यह जगता है ।।
वह स्थित है एक रूप में
सब जीवों का पालनहार ।
देता सबको जनम और
बनता कारण सबका संहार ।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।18।।

जितनी वस्तु प्रकाशित जग में
वे सबके प्रकाश के स्रोत ।
भौतिक अंधकार से आगे
और अगोचर अनुपम जोत ।।
ज्ञान ज्ञेय और लक्ष्य ज्ञान के
वे हैं इसे सत्य जानो ।
सबके हृदय बीच स्थित वे
परम पुरुष उनको मानो ।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।19।।

इस प्रकार इस कार्य क्षेत्र का
ज्ञान ज्ञेय का कर वर्णन ।
मेरे इस स्वभाव को पाते
केवल मेरे भक्त सुजन ।।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥20॥

प्रकृति और जो जीव सामने
है अनादि इनको जानो ।
गुण विकार है प्रकृति जन्य
उनके ये बात सत्य मानो ।।

कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखः दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥21॥

सब भौतिक कारणों कार्यों का
हेतु प्रकृति हुआ करती ।
जीव विविध सुख-दुःख का भागी
भोगी, सीख दिया करती ।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान ।
कारणं गुण सङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥22॥

जीव प्रकृति के तीन गुणों का
भोग प्रकृति में जीता है ।
संगति के कारण का फल
वह तिक्त मधुर रस पीता है ।।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥23॥

उत्तम और अधम योनि
मिलता है इसके ही कारण ।
जीव मानता स्वामी निज को
मगर बना रहता चारण ।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥24॥

वो भी इस शरीर में है
एक दिव्य भोक्ता यह जानो ।
जो ईश्वर औ' स्वामी परम है
साक्षी तुम उसको मानो ।।
अनुमति देता सदा हमें वह
सदा उपस्थित वह हर काल ।
कहो उसे परमात्मा भगवन
या बोलो साक्षी गोपाल ।
जो नर जीव प्रकृति या उसके
गुण की अन्तः क्रिया लखे ।
यह विचार धारा जो समझे
मुक्ति सुधा स्वयमेव चखे ।।
पाता मुक्ति सुनिश्चित जानो
वर्तमान जो भी हो हो ।
पुनर्जन्म होता न यहां फिर
धुल जाते कल्मष जो सो ।।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मान मात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥25॥

कुछ हैं जो कर ध्यान देखते
प्रभु को अपने ही भीतर ।
कुछ अनुशीलन ज्ञानमार्ग का
करते चलते राह इतर ।।

औ' कुछ ऐसे हैं जो करते
कर्मयोग केवल निष्काम ।
कृष्ण भावनामृत को पीते
जीते लेकर हरि का नाम ।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।26।।

कुछ हैं ऐसे लोग जिन्हें
अध्यामज्ञान है नहीं मिला ।
किन्तु श्रवण कर अन्य पुरुष से
पूजा हित हृत कमल खिला ।।
प्रामाणिक पुरुषों से सुनकर
ज्ञानवान ये हो जाते ।
जन्म-मृत्यु के पथ के आगे
ये गन्तव्य सहज पाते ।।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।27।।

भरतवंशियों में वरेण्य
चर-अचर तुम्हें जो दीख रहा ।
वह कार्य क्षेत्र औ' ज्ञाता का
संयोग मात्र, जग सीख रहा ।।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।28।।

सब शरीर में प्रभु को जो
आत्मा के साथ निहारे है ।
नश्वर शरीर के भीतर जो
होता न विनष्ट विचारे है ।।

देखता वस्तुतः वही जान
सचमुच है वही दिव्यदर्शी ।
आत्मा शरीर का स्वामी है
करता विचार वह मधुवर्षी ।।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥29॥

सर्वत्र सभी में उसे लखे
जो व्यक्ति एक-सा हो समान ।
वह नर न भ्रष्ट होता मन से
सुधरा भविष्य औ' वर्तमान ।।
मन्तव्य दिव्य वह प्राप्त करे
वह धन्य धन्य नर होता है ।
पावन के चरण कमल में वह
अपना सौभाग्य संजोता है ।।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥30॥

सब कार्य शरीर किया करता
जिसकी उत्पत्ति प्रकृति से है ।
आत्मा कुछ करता नहीं कभी
बस सारा खेल नियति का है ।।
इस तरह देखता जो सचमुच
बस वह यथार्थ को देख रहा ।
पा दिव्य दृष्टि तन से हटकर
मन के भीतर जो रेख रहा ।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥31॥

भौतिक शरीर के कारण लख
लखना रूपों को बन्द करें ।
वह व्यक्ति विवेकवान होता
जग में स्वच्छंद सगर विचरे ।।
फैले हैं चारों ओर जीव
लखकर होता है ब्रह्म-बोध ।
अध्यात्म दृष्टि मिलती उसको
कर लेता है वह आत्मशोध ।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥32॥

शाश्वत दृष्टि सम्पन्न लोग
अविनाशी को लख पाते हैं ।
आत्मा है दिव्य और शाश्वत
गुण से अतीत बतलाते हैं ।।
भौतिक शरीर के साथ मिला
रहता फिर भी स्वच्छंद रहे ।
करता न काम, होता न लिप्त
यह आत्मा मुक्त अमंद रहे ।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्राव स्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥33॥

यद्यपि आकाश सर्वव्यापी
निज सूक्ष्म प्रकृति के ही कारण ।
होता न वस्तु से लिप्त और
करता न किसी को वह धारण ।।

इस तरह ब्रह्म स्थिति में थित
आत्मा शरीर में भी रहकर ।
होता न लिप्त तन से जानो
उन्मुक्त हवा-सी बहे सगर ।।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।34।।

हे भरतपुत्र! जिस तरह सूर्य
ब्रह्माण्ड उजाला करता है ।
बस एक अकेला दुनिया को
जगमग किरणों से भरता है ।।
उस तरह देह के भीतर यह
आत्मा का चेतन तत्व तेज ।
सारे शरीर को नित ज्योतित
करता ही रहता है सहेज ।।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिंमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।35।।

जो लोग ज्ञान के चक्षु से
लखते तन, तन के ज्ञाता को ।
भवबन्धन मुक्ति मिले उनको
पा जाते लक्ष्य विधाता को ।।

※ ※ ※

चौदहवां अध्याय

‘ प्रकृति के तीन गुण ’

श्रीभगवानुवाच – *परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।*
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥1॥

ज्ञानों में जो सर्वश्रेष्ठ है
परमज्ञान की बात सुनो ।
जिसे जान मुनियों ने पाई
परमसिद्धि जिस तरह गुनो ।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥2॥

जो मनुष्य इस ज्ञान गुहा में
स्थिर हो जाता, तव ज्ञान ।
मेरी दिव्य प्रकृति पा जाता
हो जाता मुझ–सा वह मान ।।
इस प्रकार स्थिर होकर वह
सृष्टिकाल में जन्म न ले ।
प्रलय काल में होय न विचलित
मृत्यु-मोह में नहीं पड़े ।।

मम योनिर्महदब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥3॥

जितनी भौतिक वस्तु देखते
सबका जन्म स्रोत है ब्रह्म ।
मैं करता गर्भस्थ ब्रह्म को
देता जन्म जीव को ब्रह्म ।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।4।।

सब प्रकार के जीव योनियों का
भौतिक प्रकृति आधार ।
संभव जन्म उसी से होता
मैं हूं पिता बीज का सार ।।

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।5।।

भौतिक प्रकृति तीन गुणों की
सत् रज तम से युक्त रहे ।
शाश्वत जीव प्रकृति से मिलता
गुण ग्रहता सद्ग्रन्थ कहे ।।

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।6।।

अन्य गुणों से अधिक शुद्ध
सतगुण होता मानो निष्पाप ।
यह प्रकाश देता रहता है
करता कर्ममुक्त, हर पाप ।।

जो इस गुण में रहते स्थित
वे बंध जाते सुख के डोर ।
ज्ञान भाव जगते नित उनके
उठते ज्यों पतंग धर डोर ।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।7।।

जब असीम आकांक्षायें औ'
तृष्णाओं के उठते ज्वार ।
उपज रहा है समझ रजोगुण
कुन्तीपुत्र! असीम अपार ।।
इस कारण से तनधारी
बन्धता सकाम कर्मों के बंध ।
दौड़ लगाता फिरता इत-उत
मिलती जब भी जहां सुगंध ।।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।8।।

घिर आते अज्ञान मेघ
तब जानो तम गुण बरस रहे ।
वह मोह मेनका उतर रही
हे भरतपुत्र! जग हरस रहे ।।
इस गुण का फल होता प्रमाद
आलस औ' नींद सताता है ।
जो बद्ध जीव को बांधे हैं
वह दृश्य सामने आता है ।।

सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।।9।।

सतगुण मनुष्य को सुख देता
हे भरतपुत्र! रजगुण सकाम ।
बांधता कर्म में, औ' तमगुण
ढंक देता सबका ज्ञान-ग्राम ।।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥10॥

कभी सतोगुण रज तम के
उपर प्रभाव दिखलाता है ।
दोनों को कर परास्त खुद वह
मानो प्रधान बन जाता है ।।
कभी रजोगुण सत् औ' तम को
दर किनार कर के आगे ।
भरतपुत्र! ऐसा होता ही
रहता है आगे आगे ।
कभी तमोगुण सत् औ' रज को
इतनी दूर भगा देता ।
गहन अंध घिर जाता ऐसा
प्रभ का नहीं पता देता ।।
स्पर्द्धा नित चलती रहती
आपस में को श्रेष्ठ बने ।
दूर-दूर की पास-पास की
जब जो जिसका इष्ट बने ।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥11॥

आया द्वार सतोगुण समझें तब
घर सब जब हो ज्ञान प्रकाश ।
यह अनुभव कर सकता है नर
जीवन में विहंसा उल्लास ।।

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
राजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।12।।

जभी तमोगुण आगे आता
बढ़ती आसक्ति उद्यम ।
कर्म सकाम मुक्त इच्छाएं
और लालसा भरते दम ।।
मिट जाता संतोष
लहर-पर-लहर उठते इच्छाओं की ।
भरत-ऋषभ! यह बात जान लो
सीमा नहीं हवाओं की ।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।13।।

होती वृद्धि तमोगुण की
चहुंओर अंधेरा छा जाता ।
बढ़ती जड़ता औ' प्रमत्तता
औ' मोह सामने आ जाता ।।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।14।।

जब कोई मरता सत्गुण में
वह महर्षि के घर जाता ।
वह विशुद्ध उच्चतर लोक का
सारा सात्विक सुख पाता ।।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥15॥

जब कोई रजगुण में मरता
जा सकाम कर्मों के बीच ।
औ' तम में मरता वह पाता
पशु योनि में गहरे कीच ।।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥16॥

पुण्य कर्म का फल शुचि होता
सात्विक गुण है कहलाता ।
लेकिन साथ रजोगुण का फल
दुःख सम्पन्न कर्म पाता ।।
और तमोगुण का फल होता
बनता जीव मूर्ख मतिमन्द ।
अंध चतुर्दिक है छा जाता
नहीं दीखता पूनम चंद ।।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥17॥

सत् का ज्ञान हुआ करता है
जगता जभी सतोगुण है ।
और लोभ उत्पन्न हुए तब
मानो जगा रजोगुण है ।।
और तमोगुण के जगने पर
घिरते मोह और अज्ञान ।
और घेरते आ प्रमाद हैं
ज्ञान-किरण का नहीं निशान ।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥18॥

जिसके जगे सतोगुण वह
करता जाता है उर्ध्वगमन ।
उच्चलोक के ऊपर जाते
जाते जिस पर ब्रह्म सुजन ।।
और रजोगुण जब जगता
तब इसी लोक में रह जाता ।
धन पाता राजा होता
या लौकिक सुख में दब जाता ।।
गर्हित है अत्यन्त तमोगुण
निम्न लोक का है भागी ।
निम्न योनियां मिलती उसको
जिसका है वो अनुरागी ।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥19॥

सारे कार्यों में प्रकृति के
तीन गुणों के सिवा न और ।
है कोई कर्त्ता, भली विधि यह
जान गया मिलता कुछ ठौर ।।
परमेश्वर को जब वह जाने
जो है परे त्रिगुण के पार ।
मेरा दिव्य स्वभाव वही
पा सकता है जाने संसार ।।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥20॥

जब समर्थ होता तनधारी
प्रकृति गुणों को लांघ सके ।
जन्म-मृत्यु जरा–कष्ट से
छुट जाता सत साध सके ।।
और इसी जीवन में अमृत का भी
करता है वह भोग ।
कर्मदिशा निर्देशित करते
पहुंचाते उत है जिस योग्य ।।

अर्जुन उवाच – *कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।*
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥21॥

लक्षण क्या, कैसे जानोगे
गया-जीव त्रयगुण के पार ।
और आचरण कैसा होता उसका
कहिए मेरे परम उदार ।।
अर्जुन ने अति विनय भाव से
भरकर पूछा - हे भगवान!
किस प्रकार लांघे त्रयगुण को
जो प्रकृति के हैं अवदानं ।।

श्रीभगवानुवाच – ***प्रकाशं च प्रवृतिं च मोहमेव च पाण्डव ।***
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥22॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेऽङ्गते ॥23॥

समदुःख सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥24॥

मानापमानस्तुल्यस्तुल्यो मित्र रिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥25॥

जो प्रकाश आसक्ति मोह के
आने पर न घृणा करता ।
और लुप्त हो जाने पर भी
इच्छा से न कभी भरता ।।
भौतिक गुण की प्रतिक्रियाओं से
जो हो जाता निश्चल ।
और अविचलित उसमें भर जाता
पावनता का एक बल ।।
जाता वह यह जान गुण ही है
क्रियाशील उसमें केवल ।
उदासीन औ' दिव्य रहे वह
अन्तर उठे नहीं हलचल ।।
स्थिर रहता स्वयं आप में
सुख-दुःख दोनों को सम मान ।
मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण सभी
उसके आगे हैं एक समान ।।
चाहे हो अनुकूल या कि प्रतिकूल
बना वह सम रहता ।
जो है धीर थिर रहता है
नहीं धार में वह बहता ।।
चाहे मिले प्रशंसा उसको
चाहे कोई बुराई करे ।
मान-अमान, समान भाव वह
दोनों में थिर रहे खरे ।।

शत्रु-मित्र दोनों समान हैं
दोनों से समान व्यवहार ।
सारे भौतिक कार्य त्याग कर
युग अतीत होता नर पार ।।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥26॥

सभी परिस्थितियों में जो
एकान्त भाव से पूर्ण रहे ।
और भक्ति में प्रवृत्त हुआ जो
जग उसको सम्पूर्ण कहे ।।
प्रकृति गुणों को लांघ तुरंत
वह सिन्धु पार हो जाता है ।
इस प्रकार वह ब्रह्म निकट जा
ब्रह्म सरिस पद पाता है ।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥27॥

निराकार उस ब्रहम वृत का
मैं ही हूं आश्रय जानो ।
जो अमर्त्यं, अविनाशी, शाश्वत
स्वाभाविक पद सुख मानो ।।
इस प्रकार शाश्वत अविनाशी
शाश्वत सुख संग-साथ रहे ।
जीवन में आनन्द दिव्यता
पग-पग क्षण-क्षण लगे गले ।।

※ ※ ※

पन्द्रहवां अध्याय

‘ पुरूषोत्तम योग ’

श्रीभगवानुवाच – ***उर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।***
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥1॥

प्रभु ने कहा– एक शाश्वत
अश्वत्थ वृक्ष है बहुत बड़ा ।
जिसकी जड़ें उर्ध्वमुख हैं
औ' शाखाओं पर हुआ खड़ा ।।
जो वैदिक स्तोत्र पत्तियां हैं
इसकी पावन निर्मल ।
इसे जानता जो बुद्धजन
वह वेदों का ज्ञाता अविचल ।।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥2॥

फैल रही इसकी शाखाएं
ऊपर नीचे चारों ओर ।
प्रकृति गुणों त्रय से पोषित ये
दृश्य पटल पर ओर न छोर ।।

इन्द्रिय विषय टहनियां इसकी
कुछ जड़ नीचे भी जाती ।
जो सकाम कर्मों से बंधकर
नर समान को अपनाती ।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढ़मूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥3॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥4॥

इसका सही स्वरूप जानना
जग में रहकर बड़ा कठिन ।
आदि, अंत, आधार कहां है
पता न मिल पाता अनदिन ।।
पर नर को यह सदा चाहिए
इसकी जड़ पर कर दे वार ।
निज विरक्ति से काट गिराए
जड़ पर मारे कठिन कुठार ।।
उसे चाहिए खोज करे वह
ऐसा पावन शुभ स्थान ।
जहां पहुंचकर पड़े न आना
मिले शरण शाश्वत भगवान ।।

वही शरण जिससे अनादि से
अब तक सब कुछ जुड़ा हुआ ।
एक बिन्दु से सिन्धु बन गया
विस्तृत जग में मुड़ा हुआ ।।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।5।।

मोहं कुसंगति से बाहर जो
झूठी नहीं प्रतिष्ठा चाह ।
शाश्वत तत्व समझते सचमुच
भौतिक काम नष्ट, धुर राह ।।
सुख दुःख द्वन्द्व परे जो नर हैं
मोह रहित हो परम सुजान ।
शरणागत शाश्वत पद पाते
पाते प्रभु का राज्य महान ।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।6।।

परमधाम मेरा है जो
वह शशि सूर्यों से नहीं जगे ।
बिजली क्या ज्योत जलाएगी
वह मंद अग्नि लधुदीप लगे ।।
जो लोग पहुंच पाते उस घर
भौतिक जग में फिर फिरे नहीं ।
छू लेता जो बैकुण्ठ धाम
वो फिर धरती पर गिरे नहीं ।।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥7॥

इस बद्ध जगत में जीव सभी
मेरे ही शाश्वत अंश जान ।
संघर्ष कर रहे इन्द्रियों से
मन के संग लेकर तीक्ष्ण वाण ।।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
ग्रहीत्वैताानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥8॥

जग जीव लिए देहात्मबुद्धि
इस जग से उस तन में जाता ।
जैसे सुगंधि लेकर वायु
एक जग से जग में फैलाता ।।
इस तरह जीव धारण करता
एक तन फिर उसका त्याग करे ।
फिर इसे त्याग देता फिर फिर
नव नव तन त्यागे और धरे ।।

श्रोत्रं चक्षु; स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥9॥

धारण करके दूजा शरीर
उसमें विशेष दृग और कान ।
ये जीभ, नाक, स्पर्श, ज्ञान
पाता है जीव अनेक दान ।।
जो मन के चारों ओर लगे
सुपुंजित हैं हे मनोयोग ।
विषयों में एक विशिष्ट
समुच्चय का करता है सहज भोग ।।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥10॥

जो मंदबुद्धि वह क्या जाने
है जीव त्यागता कैसे तन?
कैसे है प्रकृति गुणों के वश
कैसे भोगे भागे यह मन?
लेकिन जिनकी आंखों में है
वह ज्ञान जोत वह तेज तरल ।
वे सब लख लेते देख सहज
पर ऐसे जन हैं बहुत विरल ।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥11॥

जो आत्मसाक्ष्य कर लिया समझ
वह योगी सब लख सकता है ।
लेकिन जिसका मन मंद पड़ा
करके प्रयत्न भी झंखता है ।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥12॥

जो सारे जग के अंधकार
को दूर करे वह सूर्य तेज ।
मुझसे ही सदा निकलता है
रखता उसको निज में सहेज ।।
चन्द्रमा और यह अग्नि भी
मुझसे ही उत्पन्न हुए जानो ।
ये भाव जगाने वाले हैं
कतिपय विचार इनको मानो ।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥13॥

मैं प्रवेशता सभी लोक में
सभी लोक मुझमें स्थित ।
बनकर चन्द्र वनस्पतियों को
जीवन रस देता हूं नित ।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥14॥

मैं समस्त जीवों के तन में
वैश्वानर के रूप रहूं ।
प्राणवायु में चार तरह के
अन्न पचा रस रूप धरूं ।।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मतः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥15॥

मैं प्रत्येक जीवों के हृत में
रहता हूं आसीन सदा ।
मुझसे ही स्मृति ज्ञान औ'
विस्मृति होती यदा-कदा ।।
मैं ही वेदों के द्वारा
जानने योग्य हूं जान मुझे ।
वेदान्त संकलनकर्त्ता मैं
सब वेद जानता मान मुझे ।।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥16॥

अच्युत औ' च्युत जीव जगत में
दो प्रकार के होते हैं ।
भौतिक जग में च्युत और
अध्यात्म अच्युत समोते हैं ।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥17॥

इन दोनों के सिवा एक
परमात्म पुरुष है इसे जान ।
साक्षात् स्वयं अविनाशी वह
भगवान जिसे कहते सुजान ।।
जो तीनों लोकों में प्रवेशकर
सबको पाला करता है ।
फल देता है कर्मानुरुप
शासन अपने कर धरता है ।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥18॥

मैं क्षर अक्षर दोनों से ही
हूं परे, मुझे परमेष्ठ जान ।
मैं परम पुरुष जग में, वेदों में
वर्णित सबसे श्रेष्ठ मान ।।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥19॥

जो भी संशय से मुक्त
युक्त पुरुषोत्तम मुझको जान रहा ।
वह सबकुछ जान रहा भारत!
भक्तिरत, वह पहचान रहा ।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृतत्यश्च भारत ॥20॥

वैदिक शास्त्रों का सर्वाधिक
है गुप्त अंश यह, अनघ सुनो ।
जो प्रकट किया मैंने इसको
समझे ज्ञानी वह धन्य गुनो ।।

※ ※ ※

सोलहवां अध्याय

' दैवी तथा आसुरी स्वभाव '

श्रीभगवानुवाच – *अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।*
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥1॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम् ॥2॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवमभिजातस्य भारत ॥3॥

प्रभु ने कहा– सुनो हे भारत!
दिव्य पुरुष के गुण का गान ।
जिनमें ये पाए जाते हैं
सचमुच वो हैं पुरुष महान ।।
निर्भयता और आत्मशुद्धि
आध्यात्मज्ञान का अनुशीलन ।
तप, दान, आत्म संयम, शुचिता
वेदाध्ययन और सरल हो मन ।।
हिंसा न करे हो क्रोधहीन
हो त्याग शान्ति में भी प्रवीण ।
छिद्रान्वेषण में रूचि नहीं
सब पर करूणा में दत्त लीन ।।

ना क्रोध करे हो भद्र तेज
संकल्प क्षमा औ' हो उदार ।
मानापमान से दूर रहे
ईर्ष्या न रखे, हर्षित अपार ।।
इन सारे दिव्य गुणों को जो
धारण करता वह देवतुल्य ।
दैवी प्रकृति सम्पन्न पुरुष
उसका जीवन अतिशय अमूल्य ।।

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।4।।

ये दर्प, दंभ, अभिमान, क्रोध
जिसमें रहता अज्ञान भरा ।
हे पृथापुत्र! वह जीव अधम
आसुरी स्वभाव से भरा धरा ।।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।5।।

जो मोक्ष चाहता उनके हित
इन दिव्य गुणों का महत् बड़ा ।।
आसुरी प्रकृति के जो होते
उनका बन्धन है बड़ा कड़ा ।।
हे पाण्डुपुत्र! मत चिन्ता कर
तुम दिव्य गुणों के साथ जने ।
उद्धार तुम्हारा होगा ही
निज कार्य करो सब बात बने ।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥6॥

हे पृथापुत्र, सुन इस जग में
बस दो प्रकार के हैं प्राणी ।
दैवी आसुरी कहाते वे
दोनों की अपनी है वाणी ।।
पहले ही तुम्हें बताया है
दैवी गुण कैसे होते हैं ।
अब तुम्हें बताऊंगा क्या है
आसुरी गुणों के सोते हैं ।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥7॥

वे नहीं जानते क्या करना
आसुरी प्रकृति के जो होते ।
शुचि, सत्य आचरण का अभाव
सब सूख गये हैं ज्यों सोते ।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥8॥

वे कहते हैं जग सत्य नहीं
कोई इसका आधार नहीं ।
इसका न नियामक है ईश्वर
कामेच्छा ही व्यापार सही ।।
बस काम मूल मैं है इसका
उससे ही यह विस्तार हुआ ।
होता न काम तो जगत नहीं
हित काम वृहत संसार हुआ ।।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥9॥

इन निष्कर्षों का अनुगमन
करते हैं जो आसुरी लोग ।
जिनका है आत्मज्ञान खोया
रत-निरत, रहे निज भोग-रोग ।।
है उपयोगी जो नहीं कार्य
उनमें प्रवृत्त वे रहते हैं ।
अत्यन्त भयावह वह होते
करते विनाश सब कहते हैं ।।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥10॥

संतुष्ट न होता काम कभी
लेकर आश्रय उसका चलते ।
मद गर्व प्रतिष्ठा मिथ्या में
डूबते अंत में कर मलते ।।
इस तरह मोहमें ग्रस्त सदा
क्षणभंगुर जग की सभी वस्तु ।
अपवित्र कर्म का ब्रत लेकर
करते वे अपना इति-अस्तु ।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥11॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥12॥

संतुष्ट इन्द्रियों को करना
है मूल सभ्यता मानव की ।
विश्वास यही वे हैं करते
रखते प्रवृति हैं दानव की ।।
इस तरह मरण तक चिन्ता में
डूबे रहते हैं वे अपार ।
चिन्ताओं का यह जाल सघन
बंधते फंसते वे बार-बार ।।
नित काम क्रोध में लीन रहे
इन्द्रियां तृप्त क्या होती हैं?
धन-संग्रह औ' अवैध लिप्सा
क्या कभी नींद से सोती हैं?

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥13॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥14॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥15॥

आसुरी व्यक्ति की सोच सदा
इतना धन मेरे पास बढ़ा ।
नित और नया धन जोड़ूंगा
है समय हमारे पास बड़ा ।।

यह धन इतना हो जाएगा
शत्रु को मार गिरायेंगे ।
उसके धन भी संग्रह करके
दुनिया में नाम कमायेंगे ।।
मैं सभी वस्तुओं का स्वामी
उपभोग करूंगा सदा-सदा ।
हूं सिद्ध, शक्ति से पूर्ण सुखी
हूं सबसे धनी अलग अहदा ।।
मेरे सम्बन्धी पास मेरे
हैं सुखी कौन मेरे समान?
मैं शक्तिमान मैं ज्ञानवान
मैं सावधान मैं हूं महान ।।
मैं यज्ञ करूंगा और दान दूंगा
आनन्द मनाऊंगा ।
अज्ञान विवश सोचा करता
वह नर, मैं नाम कमाऊंगा ।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥16॥

इस तरह अनेक चिन्ताओं में
उद्विग्न, रहा करते व नर ।
हैं मोहजाल में बन्ध जाते-
आसक्त भोग में लिप्त सगर ।।
वे अधम नरक में गिरते हैं
मिल सकता कैसे सहज त्राण?
जो मोहजाल में फंसा, कसा
मछली-सी छटपट करे प्राण ।।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥17॥

जो श्रेष्ठ स्वयं को मान रहा
औ' भरा हुआ जिसमें घमण्ड ।
सम्पत्ति प्रतिष्ठा में निमग्न
है अहंकार उसमें प्रचण्ड ।।
मिथ्या वे पड़कर मोहजाल में
विधि विधान का त्याग करे ।
बस नाम मात्र के गर्व सहित
कुछ अनुष्ठान यज्ञ-याग करे ।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्परदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥18॥

मिथ्या ढोते वे अहंकार
बल, दर्प, काम औ' क्रोध भरा ।
मोहित आसुरी शरीर लिये
ईर्ष्या करते क्या 'ईश' धरा?
वास्तविक धर्म की निन्दा वे
करते दिन-रात नहीं थकते ।
ऐसे नर व्यर्थ जनम लेते
जगते सोते रहते बकते ।।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्त्रमशभानासुरीष्वेव योनिषु ॥19॥

जो लोग-क्रूर औ' ईर्ष्यालु
वे नर हैं नहीं नराधम हैं ।
मैं विविध योनियों में उनको
भव में भेजा करता, तम हैं ।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।20।।

हे कुन्तीपुत्र! ऐसे जो नर
आसुरी योनि में जाते हैं ।
आते फिर-फिर फिर-फिर जाते
मुझ तक वे पहुंच न पाते हैं ।।
धीरे-धीरे अत्यन्त अधम
योनि को प्राप्त करे वे नर ।
होने पर उनका अधः-पतन
पाते जीवन कूकर-शूकर ।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।21।।

काम, क्रोध औ' लोभ सुनो
ये तीनों द्वार नरक के हैं ।
बुद्धजन इनका नित त्याग करे
लघु अन्तर अरक-फरक के हैं ।।
होता है पतन आत्मा का
जो इनके साथ रहें विचरें ।
है अनल कठिन जल रहा निरत
को है जो इनमें नहीं जरे ।।

एतैर्विमुक्त : कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।22।।

जो बच इन तीनों द्वारों से
हे कुन्तीपुत्र! निकल जाता ।
वह आत्मसाक्ष्य करता जानो
औ' अकल्याण है टल जाता ।।
पा जाता वह नर परमगति
वह मुक्त भक्ति में लगे फिरे ।
होती है कृपा नियंता की
फिर अधम योनि में नहीं गिरे ।।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥23॥

शास्त्रों के आदेशों की जो
करता रहता है अवहेला ।
मनमाने कार्य किया करता
देखों जग में उसका खेला ।।
ना सिद्धि मिले ना सुख पाता
औ' पदमगति तो दूर गया ।
थोड़ी-सी चूक हुई मानो
जो था वह सब भरपूर गया ।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥24॥

अतएव जान ले यह मानव
शास्त्रों का है कैसा विधान ?
है अकर्त्तव्य, कर्त्तव्य भला क्या
उसके हित यह रखे ध्यान
यह विधि-विधान जो गान करे
कर्त्तव्य नियत कर्त्तव्य करे ।
क्रमशः उपर उठता जाये
नर में उतरे वह 'ईश' भरे ।।

※ ※ ※

सतरहवां अध्याय

' श्रद्धा के विभाग '

अर्जुन उवाच – ***ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।***
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥1॥

नियम शास्त्र की नहीं पालते
करते पूजा निज अनुसार ।
बता हमें हे कृष्ण! विनयवत
पूछ रहा आपके विचार ।।
उनकी क्या स्थिति होती है
सत रज याकि तमोगुणी?
कृपया हमें बतायें माधव
हमने अब तक नहीं सुनी ।।

श्रीभगवानुवाच – ***त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।***
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥2॥

कहा कृष्ण ने– जो तनधारी
अर्जित गुण करते निज जान ।
उनकी श्रद्धा तीन तरह की
होती है अर्जुन यह मान ।।
सत रज तम त्रयगुण हैं जानो
सुनो तुम्हें बतलाता हूं ।
तीन गुणों के जो स्वभाव हैं
परिचय तुम्हें कराता हूं ।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥3॥

निज अस्तित्व मुताबिक करते
विकसित श्रद्धा जीव महान ।
अर्जित गुण के अनुरूप ही
श्रद्धा का होता गुणगान ।।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥4॥

सतोगुणी जो नर होते
देवों का पूजन करते हैं ।
रजोगुणी राक्षसों और
यक्षों का चरण पकड़ते हैं ।।
तमोगुणी जो नर होते
पूजते भूत-प्रेतों को हैं ।
घन अंधकार में फिरते हैं
वे फसल भरे खेतों के हैं ।।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥5॥

जो दंभ अहं से अभिभूत हो
शास्त्रविरोधी कार्य करे ।
जो काम और आशक्ति से
प्रेरित होकर अनिवार्य करे ।।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥6॥

करते कठोर तप व्रत जो नर
भौतिक तत्वों को दिये ताप ।
भीतर स्थित परमात्म दुःखी
वे असुर सदा करते प्रलाप ।।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ॥7॥

हर नर जो भोजन करता है
उसकी होती अपनी पसंद ।
वह भी प्रकृति के गुण से है
त्रयरूप लिए तीव्र या मंद ।।
जो यज्ञ तपस्यां और दान
उसके हित भी है यही सत्य ।
इनके भेदों को सुनो जरा
कैसे करते हैं आधिपत्य ।।

आयु सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्‍या आहाराःसात्विकप्रियाः ॥8॥

जो नर सात्विक भोजन करते
वह आयु बढ़ाने वाला है ।
जीवन को शुद्ध बनाता है
बल, तृप्ति स्वास्थ्य रखवाला है ।।
ऐसा भोजन रससिक्तस्निग्ध
रखता है स्वस्थ और सुन्दर ।
यह भाता बहुत हृदय को है
हल्का औ' मधुर सुपच रूचिकर ।।

कट्‍वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामय प्रदाः ॥9॥

अतितिक्त, अम्ल, नमकीन तीक्ष्ण
औ' शुष्क जलन देनेवाला ।
राजसी लोग को रूचिकर यह
दुःख शोक रोग सेनेवाला ।।

यातयामं गतरसं पूति पर्युसितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।10।।

घंटो पहले का पका हुआ
दुर्गन्धियुक्त औ' स्वादहीन ।
जूठन या छुआ हुआ खाते
तामस प्रकृति के लोग हीन ।।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।।11।।

यज्ञों में वही यज्ञ सात्विक
जो शास्त्र निदेशित होता है ।
फल इच्छा का कर त्याग मुदित
परजन हित पुण्य पिरोता है ।।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।12।।

जो यज्ञ लाभ भौतिक हित में
या गर्व हेत करता है नर ।
हे भरतश्रेष्ठ! राजसी जान
उससे है नर वह नहीं इतर ।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।13।।

जो यज्ञ शास्त्र निर्देशों की
अवहेला कर करता है नर ।
या वेदमंत्र का उच्चारण
औ' ना प्रसाद की कोई फिकर ।।
दक्षिणा पुरोहित को न मिले
औ' श्रद्धा का है नाम नहीं ।
वह यज्ञ तामसी कहलाता
जिसमे न राम या श्याम कहीं ।।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥14॥

परमेश्वर ब्राह्मण गुरुदेव
माता-पितु गुरुजन का पूजन ।
शुचि, सरल, अहिंसा, ब्रह्मचर्य
शारीरिक तप हैं करो मनन ।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥15॥

सच्चे, भानेवाले, हितकर
अन्यों को क्षुब्ध न करते हों ।
ऐसी वाणी जो मधुर लगे
औ' कर्ण-कुहर मधु भरते हों ।।
नियमित पारायण वेदों का
वाणी का तप है मधुर मान ।
ऐसा तप करते लोग वही
जिसमें अवलोकित दिव्य प्राण ।।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥16॥

संतोष, सरलता, भोलापन
गंभीर आत्मसंयम पालन ।
जीवन की शुद्धि रहे कायम
ये मन का तप है, मान सुजन ।।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ।।17।।

भौतिक लाभों की चाह नहीं
केवल प्रवृत्त परमेश्वर में ।
औ' दिव्य भाव से किया हुआ
सात्विक तप कहलाते नर में ।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।18।।

दंभपूर्ण सम्मान हेतु जो
तप करता है अनुचित जान ।
निज पूजा सत्कार भाव
जिसमें हो उसे राजसी मान ।।
होता नहीं कभी वह स्थिर
और नहीं होता शाश्वत ।
यह है क्षणिक चलायमान औ'
कृत्रिम है लख देख जगत ।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।19।।

आत्मा को उत्पीड़ित कर वे
किये मूर्खतावश जो काम ।
या अन्यों को विनष्ट करने
के हित रचते जाल तमाम ।।

दूजों को हानि पहुंचे इस हेतु
किये जाते जो कर्म ।
यही तामसी तप कहलाता
सुजन जान ले इसका मर्म ।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥20॥

जो कर्त्तव्य समझकर देता
सचमुच काल पात्र स्थान ।
बिन आशा बिन प्रत्युपकार के
सचमुच वह सात्विक है दान ।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥21॥

प्रत्युपकार की रहे कामना
और कर्मफल की हो चाह ।
बिन इच्छा जो दिया गया हो
दान राजसी कहते नाह ।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥22॥

अनुचित समय अयोग्य व्यक्ति को
बिन आदर मिलता जो दान ।
बिना ध्यान अपवित्र जगह में
वह तामसी दान है जान ।।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥23॥

ऊँ तत सत् ये तीन शब्द
परब्रह्म सूचक हैं वेद प्रमाण ।
वैदिक मंत्र ब्राह्मणों द्वारा
यज्ञकर्म हित व्यवहृत गान ।।
सृष्टि बनी जब उसी काल से
ये अभिव्यक्ति बने संकेत ।
परमपुरुष की ओर बढ़े
तप, दान, यज्ञ से दिव्य निकेत ।।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।24।।

ब्रह्मप्राप्ति के लिए शास्त्रविधि का
करते योगी उपयोग ।
यज्ञ, दान, तप सभी क्रिया में
करते प्रथम ओऽम् का योग ।।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।25।।

बिना कर्मफल इच्छा के
नर करे दान, तप, यज्ञ विशेष ।
'तत्' कहकर सम्पन्न करे सब
मुक्त करे भवबंध अशेष ।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।26।।

लक्ष्य यज्ञ का परम सत्य है
भक्तिभाव कुछ रहा अपूर्ण ।
करते अभिहित 'सत्' से उसको
पृथापुत्र! होता वह पूर्ण ।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥27॥

कर्त्ता, कर्म, सभी सत होते
'सत' है परम पुरुष, वह जान ।
जिसमें प्रेम भक्ति जुड़ जाता
वह हो जाता 'ईश' समान ।।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥28॥

बिन श्रद्धा के किया हुआ
तप, दान, यज्ञ सब है बेकार ।
वह नश्वर है, 'असत' कहाता
जन्म अनेक व्यर्थ हो भार ।।

※ ※ ※

अठारहवां अध्याय

‘ उपसंहार ’

संन्यास की सिद्धि

अर्जुन उवाच – ***संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।***
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥1॥

मुझे त्याग के लक्ष्य बताएं
महाबाहु! मुझको दें ज्ञान ।
और त्यागमय जीवन का क्या
है उद्देश्य यह करें बखान ।।
हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदम!
आप इन्द्रियों के स्वामी ।
संशय असुर घेरता मुझको
बचा मुझे अन्तर्यामी ।।

श्रीभगवानुवाच – ***काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः***
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥2॥

भौतिक इच्छा पर आधारित
कार्यों का करना परित्याग ।
अभिहित है सन्यास नाम से
सब विद्वान करें जो याग ।।
औ’ समस्त कर्मों के फल को
जो अर्पण मुझमें कर दे ।
त्याग उसी को बुद्धजन कहते
अन्तर में जो प्रभ भर दे ।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥3॥

सब सकाम कर्मों को दोषीमान
त्याग देना बेहतर ।
कुछ विद्वान् कहा करते हैं
इसी बात को इधर-उधर ।।
किन्तु अन्य विद्वान मानते
यज्ञ, दान, तप के जो कर्म ।
कभी त्यागना नहीं चाहिए
अपना कर्म करे है धर्म ।।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरत सत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥4॥

मेरा निर्णय सुनो त्यागके प्रति
हे भरतश्रेष्ठ! भावन ।
हे नरशार्दूल! तीन तरह के त्याग
शास्त्र-सम्मत पावन ।।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥5॥

यज्ञ दान तप कर्मों की
करना न चाहिए त्याग कभी ।
इसे अवश्य करे नर प्रमुदित
होकर अवसर मिले जभी ।।
इससे महत् आत्मा भी
होते हैं शुद्ध बात मानो ।
इनको त्याग अमंगल होता
जीवन में यह तुम जानो ।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥6॥

इन सारे कर्मों को बिन आसक्ति
और बिन फल आस करे ।
पृथापुत्र! कर्त्तव्य मानकर
मेरा मत उर बीच धरे ।।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥7॥

जो निर्दिष्ट कर्म मानव का
उसका त्याग नहीं अच्छा ।
अगर मोहवश कोई ऐसा
कर्म करे वह है कच्चा ।।
त्याग तामसी कहलाता यह
निज तुष्टिहित लोग करे ।
विविध यातनाएं मिलती हैं
और तमिस्रा में विचरे ।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागंफलं लभेत् ॥8॥

नियत कर्म को कष्ट समझकर
और क्लेश के भय त्यागे ।
ऐसा त्याग रजोगुण होता
मिलता महत न फल आगे ।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥9॥

नियत कर्म करणीय मानकर
फलासक्ति का करता त्याग ।
सात्विक त्याग वही कहलाता
भौतिकता में रहे न राग ।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।10।।

स्थित सदा सत्तोगुण में जो
शुभ और अशुभ कर्म समभाव ।
संशय कभी न करता मन में
बहता जैसा मिले बहाव ।।
कृष्णभावना भावित वह नर
निर्भय नियत करे निज कर्म ।
सर्वाधिक वह बुद्धिमान है
जान रहा कर्मों का मर्म ।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।11।।

निसंदेह जो देह धरा है
त्याग नहीं सकता निज कर्म ।
ऐसा करना बहुत कठिन है
सहज न निभ सकता यह धर्म ।।
किन्तु कर्मफल का जो त्यागी
सचमुच वह त्यागी होता ।
राग-रंग के बीच बैठकर भी
वह बैरागी होता ।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।।12।।

इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित
ये तीन तरह के फल खिलते ।
जो त्यागी है नहीं, उसे
मरने के बाद वही मिलते ।।
लेकिन जो है संन्यासी
सुख-दुःख के फल से दूर रहे ।
विचरे वह उन्मुक्त भाव से
यहां-वहां भरपूर रहे ।।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥13॥

सभी कर्म के पूर्ति के हित
कारण पांच कहे वेदान्त ।
महाबाहु अर्जुन! सुन इसको
कहता हूं, हो जाओ शान्त ।।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथक्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥14॥

कर्मस्थान और कर्त्ता
इन्द्रियां विभिन्न हेत धारण ।
औ' अनेक चैष्टाएं ईश्वर
पांच कर्म के हैं कारण ।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥15॥

नर अपने तन मन वाणी से
सही-गलत जो कर्म करे ।
यही पांच कारण होते हैं
नर जिनके पीछे विचरे ।।

तत्रैवंसति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥16॥

कारण नहीं मानता इनको
निज को वस कर्त्ता माने ।
निश्चय ही मतिमंद जीव वह
सृष्टि, दृष्टि क्या-क्या जाने?

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमॉल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥17॥

मिथ्या अहंकार ना जिसको
बंधी न जिसके बुद्धि विचार ।
मार-मारकर भी मनुष्य को
निष्पापी जा सकता पार ।।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविद्या कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥18॥

ज्ञान, ज्ञेय औ' ज्ञाता तीनों
कर्म प्रेरणा के कारण ।
करण (इन्द्रियां), कर्म औ' कर्त्ता तीनों
कर्म संघटक हैं कर मन ।।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥19॥

तीन गुणों से ज्यों प्रकृति है
बनी हुई ये बात सुने ।
इसी तरह से ज्ञान, कर्म, कर्त्ता के
त्रय त्रय भेद बने ।।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥20॥

जो विभक्त सारे जीवों में
धरकर रूप अनंत सखे ।
आध्यात्मिक प्रकृति है जिसकी
सात्विक ज्ञान नाम उसके ।।
भौतिक रूप अनेक दीखते
क्षणभंगुर जग में यह जान ।
अविनाशी जीवनी शक्ति वह
परा प्रकृति से बन्धी सुजान ।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥21॥

भिन्न तनों से भिन्न-भिन्न-सा
जीव दीखता है तव जान ।
वह राजसी ज्ञान कहलाता
सात्विक से यह पृथक् विधान ।।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिनकार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृत्तम् ॥22॥

कोई एक कार्य करता नर
है अति तुच्छ, मगर सब जान ।
जाने बिना सत्य उसमें रत
ज्ञान तमंस् की यह पहचान ।।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥23॥

जो है नियमित कर्म, राग द्वेषों से परे
न फल की चाह ।
जो आसक्तिहीन होता है
वह है सात्विक कर्म प्रवाह ।।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।24।।

निज ईच्छा की पूर्ति हेतु
करते प्रयास जो होते कार्य ।
अहंकार मिथ्या है जिसमें
राजस है जानो अनिवार्य ।।

अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरूषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।25।।

शास्त्रों के आदेश भुलाकर
कर्म मोहवश जो होते ।
बंधन का परवाह किये बिन
दुःख देते पर को, रोते ।।
यह तामसी कर्म कहलाता
फल उसका होता अज्ञान ।
वह विनाशकारी, हिंसा, दुःख
देता रहता है यह जान ।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते ।।26।।

भौतिक गुण संसर्ग बिना
औ' अहंकार से रहकर दूर ।
शुभ संकल्प उल्लसित मन से
अपना कर्म करे भरपूर ।।

असफल सफल रहे क्या अन्तर
है स्थिर उसका आदर्श ।
वह सात्विक कर्त्ता कहलाता
बढ़ता नित उसका उत्कर्ष ।।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ।।27।।

कर्म, कर्मफल में रत होकर
रखे भोग की हरदम चाह ।
ईर्ष्या, लोभ, अशुचि औ' सुख-दुःख
से विचलित यह प्रबल प्रवाह ।।
ये सभी राजसी कर्त्ता हैं
उसके हैं सब विचार अस्थिर ।
मोह-भंवर में गोते खाता
आता-जाता है फिर-फिर ।।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ।।28।।

शास्त्र विरूद्ध सदैव करे जो कर्म
हठी, कपटी वह नर ।
अन्यों का अपमान में पटु
भौतिकता में लिप्त सगर ।।
सदा खिन्न आलस में रहता
करता ऊंघ ऊंघकर काम ।
दीर्घसूत्री वह तमोगुणी
अभिहित है उसका नाम तमाम ।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ।।29।।

अब विभिन्न बुद्धि औ' धृति की
सुनो धनंजय मेरी बात ।
प्रकृति भेद-गुण से बतलाता
इनके विषय सुनो हे तात ।।

प्रवृतिं च निवृतिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिःसा पार्थ सात्विकी ॥30॥

पृथापुत्र! उसको सात्विक कहते हैं
क्या करणीय, कहे ।
और वर्जना है किसकी
यह बात हृदय में सदा रहे ।।
किससे डरना औ' किससे
निर्भय रहना है बतलावे ।
कौन बाँधने वाला है औ'
कौन मुक्तिपथ, दिखलावे ।।

यया धर्ममधर्मंच कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥31॥

धर्म-अधर्म, करण-वर्जन का
पृथापुत्र! ना भेद करे ।
बुद्धि राजसी वह कहलाती
द्वन्द्वमोह में पड़ी रहे ।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥32॥

मोह अंध के वशीभूत हो
जो बुद्धि विपरीत चले ।
धर्म-अधर्म अधर्म-धर्म हैं
पार्थ! तामसी लगे गले ।।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥33॥

पृथापुत्र हे! जो अदम्य है
जिसे योग से किया अचल ।
मन प्राण इन्द्रिय जिसके वश
सात्विक धृति नाम निर्मल ।।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥34॥

लेकिन हे अर्जुन! जिस धृति से
धर्म, अर्थ, फल, काम मिले ।
सदा लिप्त रहता जिसमें नर
नाम राजसी सदा छले ।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥35॥

जो धृति स्वप्न, शोक, भय भीतर
रहने को प्रेरित करती ।
मोह विषाद परे ना जाती
धृति तामसी है डरती ।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ् ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥36॥

भरतश्रेष्ठ! त्रय दुःख जो होते
उनके हित मैं बता रहा ।
बद्धजीव भोगता जिसे
दुःख अन्त करे वह जता रहा ।।

यत्तदग्रे विषमिव, परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥37॥

जिसका आदि विष-सा लगता
पर अमृत-सा लगता अंत ।
आत्मबोध जो दे 'सात्विक' सुख
जिसे साधते हैं सब संत ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥38॥

जो अमृत-सा लगे आदि में
और अंत विष-सा फलता ।
वह संसर्ग विषय इन्द्रिय का
वह 'राजसी' सुख है खलता ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥39॥

आत्मबोध के प्रति अंधा जो
सुख 'तामस' का है आधार ।
आदि अंत सब मोह मग्न है
निंद्रा, आलस, मोह अपार ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥40॥

मर्त्यं, स्वर्ग या देवलोक के
मध्य कोई ना ऐसा नर ।
प्रकृति गुणों से जो विमुक्त हो
तीन गुणों से नहीं इतर ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शुद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥41॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के
प्रकृति गुणों के ही आधार ।
उत्पन्न होते हैं स्वभाव के
भेद परंतप, सुन विस्तार ।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥42॥

शान्तिप्रियता और तपस्या
संयम आत्म औ' सद्ज्ञान ।
सत्यनिष्ठता औ' सहिष्णुता
धार्मिकता, शुचिता विज्ञान ।।
ये स्वाभाविक गुण ब्राह्मण के
जिससे वह निज-कर्म करे ।
इससे ही होते वरेण्य वे
सद्गुण को सोत्साह वरे ।।

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥46॥

शक्ति, वीरता और दक्षता
धैर्य युद्ध में औ' संकल्प ।
उदारता, नेतृत्व, क्षत्रियों के
स्वाभाविक गुण हैं अल्प ।।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥44॥

कृषि-कर्म, गोरक्षा करना
करे सफलता से व्यापार ।
स्वाभाविक ये कर्म वैश्य के
यह है सर्व विदित संसार ।।
अन्य जनों की सेवा करना
औ' श्रम करना देकर ध्यान ।
कर्म शूद्र का है ये पावन
जाने इसको सकल जहान ।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥45॥

निज निज कर्म गुणों का पालन
कर हर व्यक्ति सिद्ध बने ।
निज कर्मों का त्याग करे जो
वह असफल शरबिद्ध बने ।।

यतः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥46॥

सभी प्राणियों का उद्गम जो
और सर्वव्यापी भगवान ।
निज कर्मों के साथ उपासना
करे प्रभु की जो नर जान ।।
प्राप्त पूर्णता वह कर सकता
निज कर्मों के बल जानो ।
परमेश्वर की सेवा करना
है सर्वोच्च सिद्धि मानो ।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥47॥

अपने वृतिपरक कार्यों को
ही करना है श्रेष्ठ सुनो ।
चाहे वह त्रुटिपूर्ण ढंग से
किया जाये है नेष्ठ सुनो ।।
अन्य किसी के कार्य करे
कितने ही श्रेष्ठ ढंग से लोग ।
सफल नहीं हो पाते उसमें
प्रकृति गुणों का है संयोग ।।
निज स्वभाव निर्दिष्ट कर्म
करने से कभी न होता पाप ।
कर्म कभी गर्हित ना होते
होता प्रभु से सहज मिलाप ।।
माने अगर कर्म को पूजा
औ' प्रभु का ही ध्यान करे ।
अपना, जीवन का, जगती का
सचमुच हम कल्याण करें ।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।48।।

हर प्रयास आवृत होता है
किसी न किसी दोष से जान ।
अग्नि धुएं से जैसे आवृत
रहती, जाने सकल जहान ।।
अतः सुनो हे कुन्तीपुत्र!
जो निज स्वभाव से कर्म जने ।
दोषपूर्ण हो क्यों न, करे वह
नहीं त्याग निज धर्म सने ।।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥49॥

आत्मसंयमी अनासक्त जो
त्याग किया सब भौतिक भोग ।
कर अभ्यास सन्यास कर्मफल के
सब मिट जाते हैं रोग ।।
यह सर्वोच्च सिद्धि स्तर है
जिसे प्राप्त करता वह नर ।
जिसके हैं सब कार्य प्रभु के हित
अर्पित वह व्यक्ति इतर ।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥50॥

सिद्धि प्राप्त वह व्यक्ति परम
सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ ।
ब्रह्म निकट सर्वोच्च ज्ञान की
मंजिल थी जो उसे छुआ ।।
उसको मैं संक्षेप सार बतला दूं
कुन्तीपुत्र! सुनो ।
जानो उसे और अपनाओ
अन्तर में मम कथन गुनो ।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥51॥

होकर शुद्ध बुद्धि से अपनी
मन को वश कर धैर्य धरे ।
त्याग सभी इन्द्रिय विषयों का
राग-द्वेष में नहीं पड़े ।।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥52॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥53॥

जो एकांत वास करता है
अल्पाहारी है जो नर ।
उसका मन, शरीर, वाणी है
उसके वश में एक डगर ।।
जो समाधि में रहता हरदम
जो विरक्त है पूर्णतया ।
मिथ्या अहंकार या शक्ति
काम, क्रोध और गर्व गया ।।
भौतिक वस्तु न संग्रह करता
जो स्वामित्वभाव से रिक्त ।
आत्मसाक्ष्य के पद को पाता
सदा शान्ति से ही अभिषिक्त ।।
जो मनुष्य इच्छाओं के
अनवरत प्रवाहों में अविचल ।
जैसे नदियों के प्रवेश से
सागर रहता शान्त सरल ।।
शान्ति प्राप्त कर सकता वह नर
जिसकी इच्छाएं निःशेष ।
वही पहुंच सकता अनंत तक
परमप्रभु में करे प्रवेश ।।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न सोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥54॥

जो आसीन दिव्य पद पर हैं
परमब्रह्म में मिल जाता ।
पूर्णतया होता प्रसन्न वह
भक्ति कमल जब खिल जाता ।।
कभी शोक करता न किसी हित
और कामना भी न करे ।
सभी जीव में साम्यभाव का
रंग अनोखे रहे भरे ।।
इसी अवस्था में वह मेरी
शुद्ध भक्ति को प्राप्त करे ।
परमब्रह्म तादाम्य विलय का
क्षण वह आया अरे अरे ।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वत्तो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।55।।

यथारूप मुझ प्रभु को केवल
भक्ति से नर जान सके ।
पूर्णभानवामृत में मुझको
भक्ति से पहचान सके ।।
वह वैकुण्ठ जगत में करता
है प्रवेश यह जग जाने ।
बिना भक्ति के भक्त नहीं नर
बिना भक्त को पहचाने?

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।56।।

मेरा शुद्ध भक्त मेरे
संरक्षण में नित रहता है ।
सब प्रकार के कार्य करे वह

भक्तिभाव में बहता है ।।
वहां प्रत्येक वस्तु शाश्वत औ'
ज्ञानमयी अविनश्वर है ।
केवल ईश्वर, केवल ईश्वर
केवल ईश्वर, ईश्वर है ।।

***चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥57॥***

सभी कार्य के हित मुझ पर
जो सदा सदा रहता निर्भर ।
मेरे संरक्षण में करता वह कार्य
न भटके इधर उधर ।।
ऐसी मेरी भक्ति के प्रति
हरदम पूर्ण सचेत रहो ।
जो होता है वह होने दो
भक्तिभाव में बहो, अहो ।।

***मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥58॥***

मुझसे यदि भावना भावित होगे
तो मम कृपा अपार ।
लांघ सभी अवरोधों को तुम
सहज जाओगे तम के पार ।।
लेकिन मिथ्या अहंकार वश
नहीं सुने गर मेरी बात ।
कर्म चेतना से न करोगे
तो विनष्ट होगे पा घात ।।

***यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥59॥***

मेरे निर्देशानुसार गर
कर्म नहीं तुम करते हो ।
अगर युद्ध में प्रवृत न होते
तो कुमार्ग पथ धरते हो ।।
लगना होगा निज स्वभाववश
युद्ध कर्म में निश्चय जान ।
निर्णय निज विधि का न करे वह
इसे करेगा बस भगवान ।।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।60।।

अभी मोह में पड़े हुए तुम
निर्देशों पर दिये न ध्यान ।
निज स्वभाववश कर्म करोगे वही
बाध्य होकर यह जान ।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।61।।

परमेश्वर हर एक जीव में
अन्तर में स्थित रहता ।
भौतिक शक्ति यन्त्रनिर्मित सा
चला रहा सबको रथ-सा ।।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।62।।

हे भारत! सिर झुका, विनत हो
केवल उसकी शरण गहो ।
परम शान्ति पाओगे तुम औ'
नित्यधाम में रहो अहो ।।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥63॥

इस प्रकार से तुम्हें गुह्यतर
ज्ञान रहस्य बताया है ।
इस पर पूरा मनन करो
क्या खोया है, क्या पाया है?
फिर जैसा जी में आये
जो भाये वैसा काम करो ।
सर्वाधिक हित में को तेरे
जो हो वैसा अंजाम वरो?

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥64॥

तुम अत्यन्त प्रिय हो मेरे
औ' अभिन्न हो मित्र सुजान ।
इसीलिए आदेश परम का
दिया तुम्हें सर्वाधिक ज्ञान ।।
अपने हित के लिए सुनो यह
बता रहा जो मीत सुनो ।
मेरे कथनों पर विचार कर
डूब भक्ति में इसे गुनो ।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥65॥

मेरा चिंतन करो सदा तुम
बन जा मेरे भक्त सुजन ।
पूजो मुझको नमष्कार कर
हो निश्चिंत सरल साधन ।।

आओगे तुम पास हमारे
देता हूं मैं सत्य वचन ।
परमप्रिय हो मित्र हमारे
अर्पित कर सर्वस्व सुमन ।।

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥66॥

आओ मेरी शरण प्रेम से
कर सारे धर्मों का त्याग ।
पापों से उद्धार करूंगा
डर मत, कर मुझमें अनुराग ।।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥67॥

गुह्यज्ञान बतलाना उनको कभी न
जो संयम से रहे दूर ।
एकनिष्ठ ना भक्ति रस है
करते मुझसे द्वेष जरूर ।।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥68॥

जो मेरे इस परम रहस को
भक्तों से बतलाता है ।
शुद्ध भक्ति पाता वह नर
वापस मुझमें फिर आता है ।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥69॥

जो उसके अतिरिक्त कोई भी
अधिक प्रिय है, औ' न हुआ ।
सभी भटक जाते हैं पथ में
नर दुर्लभ जो चरण छुआ ।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥70॥

अब मैं घोषित करता हूं
जो यह पवित्र संवाद पढ़े ।
निज बुद्धि से मेरी पूजा करता
नित नव शृंग चढ़े ।।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥71॥

श्रद्धा सहित द्वेषगत होकर
जो सुनता हो जाता मुक्त ।
पाप सभी उसके धुल जाते
पा जाता शुभ लोक प्रयुक्त ।।
जहां पुण्य आत्माएं रहती
औ' निवास करती यह जान ।
पुण्य उदय होता उस नर का
होता कभी नहीं अवसान ।।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥72॥

पृथापुत्र! क्या इसे सुना
एकाग्र चित्त से देकर ध्यान ।
क्या तेरा वह मोह गया
क्या दूर हुआ तेरा अज्ञान?

अर्जुन उवाच – ***नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।***
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥73॥

अर्जुन ने तब कहा– कृष्ण! हे अच्युत!
मेरा मोह गया ।
पाकर तेरी कृपा दृष्टि मैं
आज धन्य अह धन्य हुआ ।।
वापस शक्ति मिली वह मुझको
हुआ स्मरण हे करतार ।
संशय रहित, दृढ़ अब हूं मैं
कर्म करूंगा तव अनुसार ।।

संजय उवाच – ***इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।***
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥74॥

संजय ने तब कहा– महापुरुषों की मैंने
बात सुनी ।
कृष्ण और अर्जुन को लखकर
रोमांचित हो, हुआ धनी ।।
यह संदेश बड़ा बद्भुत है
इतना प्रेरक औ' पावन ।
धन्य धन्य मैं हुआ धन्य मैं
कैसे बतलाऊँ राजन?

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयत स्वयम् ॥75॥

परम गुह्य बातें योगेश्वर ने
अर्जुन को समझाया ।
वही व्यास की कृपा दृष्टि से
भगवद्गीता में आया ।।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥76॥

बारम्बार स्मरण जब करता
वह दृश्य सुनें राजन ।
आह्लादित गदगद हो जाता
कृष्ण प्रेम से मेरा मन ।।
कृष्ण और अर्जुन की बातें
विस्मय से भर देती आप ।
अति पवित्र हो जाता अन्तर
मिट जाता समूल सन्ताप ।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥77॥

हे राजन! भगवान कृष्ण का
अद्भुत रूप याद करके ।
अधिकाधिक आश्चर्यचकित
हर्षित होता फिर सुख भरके ।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥78॥

जहां कृष्ण योगेश्वर रहते
और धनुर्धर अर्जुन जान ।
वहीं विजय, ऐश्वर्य, शक्ति औ'
परमनीति रहती यह मान ।।

※ ※ ※

लेखक परिचय
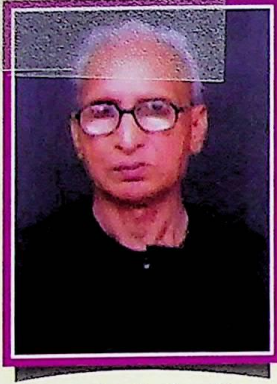
नन्द किशोर तिवारी

आपका जन्म बिहार के बोधिभूमि मगधान्तर्गत गया जनपद (वर्तमानतः अरवल) के वंशी कल्याणपुर ग्राम में बौद्धिक सम्पदा के धनी शाण्डिल्यगोत्रीय विप्र पं. सौदागर तिवारी के पुत्र स्वरूप जनवरी, 1945 में हुआ।

सम्प्रति किशोरवय से ही हिन्दी संस्कृत साहित्य का आस्वादन एवं अनुलेखन आपकी प्रवृत्ति रूप में प्रस्फुटित हुई। इसी क्रम में हिन्दी स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। समयान्तर में राजकीय सेवा में रहकर इन साहित्य कुसुमों को उल्लेखनीय विस्तार देते हुए आपने टिकारी (गयाए बिहार) साहित्यिक मंच की ओर से प्रकाशित 'गुलाब' पत्रिका का सम्पादन किया। दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश से प्रकाशित विभिन्न काव्य-संकलनों एवं पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ काव्य मनीषियों को आकर्षित करती रही हैं। आपने अगाध काव्य स्रोत पं. रामाधार दुबे के साथ हिन्दी-मगही-भोजपुरी एवं उर्दू कवि सम्मेलन-मुशायरों का सफल संयोजन एवं आयोजन गोह (औरंगाबाद, बिहार) में अनेक वर्षों तक करने का गुरुतर कार्य सविधि संपादित किया है। वर्तमानतः काशी के साहित्य भागीरथी में पवित्र स्नान करना एवं साहित्य- पिपासुओं को हिन्दी काव्यामृत का आचमन कराना ही आपकी दिनचर्या है।

प्रमुख रचनायें

प्रकाशित :

'खोल के भीतर', अनु प्रकाशन, गाजियाबाद से प्रकाशित।

अप्रकाशित :

अहल्योद्धार, प्रमद्धरा *(खण्ड काव्य)*।

* बाँसुरी से गुजरते हुए, सागर की सात लहरियां, मिट्टी का महर्षि। स्वर-गंगा की धारा *(काव्य गीत संग्रह)*।
* समाधि के पत्थर *(कहानी संग्रह)*।
* बिखरे सपनों का आंगन *(संस्मरण)*।
* पत्र-परिन्दे दिल को छूते, *(साहित्यिक मित्रों-स्वजनों के पत्र)*।
* स्याही की खुशबू *(संस्कृत की शताधिक सामयिक सूक्तियों का पद्यानुवाद)*।

सम्मान / पुरस्कार :

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश की संस्थाओं द्वारा 'साहित्यालंकार', 'काव्य-प्रवीण', 'श्रेष्ठ गीतकार', 'कलम के धनी' सम्मान से सम्मानित।

सम्पर्क :

प्रज्ञा विहार, कल्याण कुंज, मारुतिनगर कालोनी, पोस्ट- रमना, लंका (बी.एच.यू.), वाराणसी-221001 (उत्तर प्रदेश)।

प्रकाशक : वेदांग वाणी प्रकाशन, मारुतिनगर, रमना, लंका, (बी.एच.यू.), वाराणसी, उ.प्र.
मुद्रक : अंकित प्रेस, वाराणसी . मो.: 9935956134